प्रकाशक—
चम्पालाल बांठिया–मन्त्री
श्रीजवाहरसाहित्यसमिति, भीनासर
(बीकानेर)

प्रति 1000	प्रथमावृत्ति	मूल्य ।।।)

दीपमालिका, १६४८.

मुद्रक—
चिम्मनसिंह लोढ़ा
श्री महावीर प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर

-: दो शब्द :-

सम्यक्त्वपराक्रम के ७३ बोलो मे लगभग सम्पूर्ण धर्मतत्त्व का प्रधान या गौणरूप से समावेश हो जाता है। श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज ने इन बोलों पर अपनी मार्मिक और गम्भीर वाणी द्वारा जो व्याख्या की है, वह जनसाधारण के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि पूज्य श्री की व्याख्या में मार्मिकता के साथ ही साथ सरलता और सुबोधता भी है। हम आशा करते है कि अपना इस लोक और परलोक सम्बन्धी कल्याण चाहने वाले नर और नारी इस व्याख्या का अध्ययन करके लाभ उठाएँगे।

प्रारम्भ में हमारा खयाल नहीं था कि सम्यक्त्वपराक्रम को पाँच भागो मे प्रकाशित करना पड़ेगा। मगर पृष्ठसंख्या बढ़ जाने के कारण ऐसा करना पड़ा। ग्यारहवीं किरण छपे लगभग एक वर्ष हो चुका। उसके तत्काल बाद ही यह बारहवीं किरण प्रकाशित करने की बहुत इच्छा होते हुए भी सफलता नहीं मिल सकी। यद्यपि इस बीच आगे की कई किरणें प्रकाशित हो गईं, परन्तु बीच में यह किरण रह गई थी। अब इसे पाठकों के हाथों में पहुँचाते हुए हमें प्रसन्नता है, क्योंकि अब बीच की कोई भी किरण अधूरी नहीं रह गई है।

अब तक अठारह किरणें पाठकों के हाथों मे पहुँच चुकी है। १९ वीं किरण और २० वीं किरण छप चुकी हैं और शीघ्र ही पाठकों के हाथो में पहुँचेंगी।

इनके पश्चात् एक बहुत ही सुन्दर और अनूठी किरण 'जवाहर-संवत्सरी' पाठकों को भेंट की जायगी। इसमें पूज्यश्री के प्रवचनरूपी समुद्र में से बहुमूल्य-बहुमूल्य मोती चुन-चुनकर इकट्ठे किये गये हैं। यह किरण प्रतिदिन एक पृष्ठ के हिसाब से वर्ष के ३६५ दिनों के लिए ३६५ पृष्ठों की होगी। छपाई-सफाई में भी अद्वितीय सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया जायगा।

२२ वीं और २३ वीं किरणें सम्पादित हो चुकी हैं। उन्हें भी यथासम्भव शीघ्र प्रकाशित करने की चेष्टा की जा रही है।

इस प्रकाशन-कार्य में जिन-जिन महानुभावों और संस्थाओं से हमें सहयोग मिला है, उन सब के प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करते हैं।

निवेदक :—

भीनासर (बीकानेर)
दीपमालिका, वीर सं० २४७४

चम्पालाल बांठिया,
मन्त्री—श्रीजवाहरसाहित्यसमिति

-: विषयानुक्रमणिका :-







सम्यक्त्वपराक्रम
(पांचवां भाग)
उनंचासवां बोल
मृदुता

शास्त्रकारों ने जगत् के जीवों को संसार-सागर पार करने के लिए धर्म-नौका में बैठने का आह्वान किया है। धर्म का अर्थ ही है-धारण करने वाला। जो पतितों का उद्धार करे, डूबने वालों को तारे उसी को धर्म कहते हैं। यह धर्म दस प्रकार का है। धर्म के क्षमा आदि दस भेद हैं। क्षमा रखना, निर्लोभता धारण करना, सरलता रखना आदि आत्मोन्नति के मार्ग हैं। इन गुणों से क्या लाभ होता है, इस सम्बन्ध मे पहले विचार किया जा चुका है। जो आत्मा विनम्र होता है वही वास्तव में सरल बन सकता है। अतएव अब मृदुता--मार्दव या विनम्रता गुण पर विचार किया जाता है। मार्दव क्या है और उससे जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय मे गौतम स्वामी महावीर भगवान् से प्रश्न करते हैं:—

मूल पाठ

प्रश्न—मद्दवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—मद्दवयाए अणुस्सियत्तं जणयइ, अणुस्सियत्तेण जीवे मिउमद्दवसंपन्ने अट्ठमयट्ठाणाइं निट्ठावेइ ॥४६॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! मृदुता (निरभिमानता-नम्रता) से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—मृदुता से जीवात्मा अभिमानरहित होता है और निरभिमान बनने के कारण कोमल मार्दव प्राप्त करके आठ प्रकार के मदस्थानों का परित्याग करता है।

व्याख्यान

मृदुता अर्थात् विनम्रता समस्त गुणों की आधारभूमिका है। बिना आधार के आधेय टिक नहीं सकता। जिस प्रकार वृक्ष आदि के लिए पृथ्वी आधारभूत है, अर्थात् पृथ्वी के सहारे के बिना वृक्ष आदि स्थिर नहीं रह सकते, उसी प्रकार समस्त गुणों की आधारभूमिका मृदुता अर्थात् विनयशीलता है। विनयशीलता के अभाव में कोई भी गुण नहीं रह सकता। इसी कारण आर्जव के साथ मार्दव गुण भी प्राप्त करना चाहिए।

मृदुता गुण को धारण करना लाभदायक तो है ही, परन्तु मृदुता के धारण करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस बात पर विचार करना आवश्यक है।

द्रव्य और भाव से नम्रता धारण करना मार्दव अर्थात् विनयशीलता--निरभिमानता है। शरीर आदि द्रव्य मे भी नम्रता होनी चाहिए और भाव मे भी नम्रता होनी चाहिये। जहाँ नमन-भाव है वहीं सब गुण टिक सकते हैं। जिसमें नम्रता होती है वही विनयशील व्यक्ति अन्य सद्‌गुण प्राप्त कर सकता है। कहावत है—जो नमता है वही परमात्मा को गमता (सुहाता) है। मिष्ट फल भी उसी वृक्ष में आते हैं जिसमे नम्रता होती है। जिस वृक्ष मे नम्रता नहीं होती उसमे मिष्ट और सुन्दर फल भी नहीं लगते। आम्रवृक्ष आम लगने पर नीचे झुक जाता है और इसी कारण आम में मिठास होती है। परन्तु एरंड का पेड़ अकड़ा खडा रहता है और इसी से उसके फल भी वैसे ही आते हैं। तुम्हे भी नमनभाव पसन्द है। अनम्रता तुम्हे भी पसन्द नहीं। आम तुम बड़ी रुचि के साथ खा जाते हो परन्तु एरंड का फल खाने के लिए दिया जाय तो उसे खाना पसन्द करोगे? जहाँ कोमलता होती है वहाँ नमनभाव होता है और जहाँ नमनभाव होता है वहाँ विनय होता है। विनय भाव सभी गुणो को अपनी ओर खीच लाता है। विनयभाव मे सद्‌गुणो को अपनी ओर खीच लाने की शक्ति रही हुई है।

जिस व्यक्ति में विनय भाव है, उसके विषय मे भगवान् कहते है कि विनयशील व्यक्ति मे आठ प्रकार के मदो मे से एक भी मद नहीं रह पाता।

मद के आठ स्थान है:—(१) जातिमद (२) कुलमद (३) बलमद (४) रूपमद (५) तपमद (६) ज्ञानमद (७) लाभ मद (८) ऐश्वर्यमद। इन आठ प्रकार के मदो का त्याग विनयशील

व्यक्ति ही कर सकता है, क्योंकि जीवन मे नम्रता आए बिना मदों का त्याग करना शक्य नहीं है।

प्रायः देखा जाता है कि लोग मामूली बात में भी अभिमान करने लगते हैं। नये बूट पहन कर लोग ऐसा अभिमान करते हैं मानो अभिमान के मारे फूले नहीं समाते है! और अगर नये बूट के साथ सुन्दर तथा नवीन वस्त्र भी पहन लिये हो तब तो कहना ही क्या है! उस समय तो अभिमान की सीमा ही नहीं रहती। ऐसी दशा मे अगर वह व्यक्ति उच्च जाति में या उच्च कुल में पैदा हुआ हो और फिर धनसत्ता, वैभव तथा प्रभुता प्राप्त हो तब तो अभिमान का कहना ही क्या है! परन्तु किसी का अभिमान सदा टिक नहीं सकता। अभिमान से सदा सर्वदा हानि ही होती है। जब राजा रावण का भी अभिमान न टिक सका तो फिर साधारण आदमी का अभिमान न टिकने में आश्चर्य ही क्या है? अभिमान एकान्ततः हानिकारक है और इसी कारण उसे 'मद' कहते है। मद्य और दूध में कितना अन्तर है? कहीं-कहीं सरकार ने मद्य का तो निषेध किया है मगर यह नहीं सुना गया कि किसी सरकार ने कहीं दूध का भी निषेध किया है। मद्य से हानि होती है और दूध से लाभ होता है। तुम लोग शराब को ही मद्य मानते हो परन्तु ग्रंथकार मद की व्याख्या करते हुए कहते हैं:—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।

अर्थात्—जिस पदार्थ के सेवन से बुद्धि विकृत होती है वे सब पदार्थ मदकारी हैं। अभिमान से भी बुद्धि विकृत होती है, अतएव वह भी एक प्रकार का मद है।

लोगों को जाति या कुल का भी मद होता है। पर शास्त्रकार कहते है कि जाति कुल वगैरह का अहंकार भी एक प्रकार का मद ही कहलाता है। सुज्ञ पुरुषों का कथन है कि जो जातिसंपन्न और और कुलसंपन्न हों उन्हे नम्र तथा निरभिमान होना चाहिए। उच्च जाति वाला और उच्च कुल वाला तो विनम्र ही रहेगा। वह अभिमान नहीं करेगा। इससे विरुद्ध जो अपनी जाति या कुल का अभिमान करता है, समझना चाहिए कि उसकी जाति या कुल में कुछ अन्तर होगा। शास्त्र में गौतम स्वामी जातिसम्पन्न और कुल को सम्पन्न कहा है। माता का वंश जाति और पिता का वंश कुल कहलाता है। जाति या कुल उच्च होना तो पुण्य का फल है, फिर इनके लिये अभिमान क्यों करना चाहिए ? जातिमद, कुलमद या किसी भी प्रकार का अन्य मद करना अभिमान ही है और अभिमान पाप का कारण है। तुलसीदास ने 'पाप मूल अभिमान' कह कर अभिमान को त्याज्य गिना है।

जीवन में मार्दव गुण प्रकट होने पर जाति या कुल आदि का भी अभिमान नहीं रहने पाता। आत्मा में कोमलता प्रकट होने से अनेक गुण प्रकट होते है। आत्मा मे एक प्रकार की कोमलता तो स्वभावतः उत्पन्न होती है और दूसरे प्रकार की कोमलता प्रयत्न द्वारा आती है। अगर प्रयत्न द्वारा आत्मा में कोमलता न आती होती तो फिर शास्त्रकार दया के द्वारा आत्मा को कोमल बनाने का उपदेश ही क्यो देते ? मार्दव गुण प्रयत्न द्वारा भी प्रकट हो सकता है। इसी कारण गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है कि मार्दव गुण प्रकट होने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है कि मार्दव गुण के प्रकट

होने से अहंकार का नाश होता है अर्थात् आठ प्रकार के मदों मे से कोई भी मद नही रह पाता।

अहंकारी या अभिमानी पुरुष दूसरो को हल्का मानता है। पर वास्तव में बड़ा कौन है और छोटा कौन है, इस विषय में पूज्य श्री उदयसागरजी महाराज एक उदाहरण दिया करते थे। वह इस प्रकार है—जोधपुर मे एक छोटा पहाड़ है। उस पहाड़ पर किला बना है। उस किले पर चढ़ कर मनुष्य जब नीचे के मनुष्यो को देखता है तब उसे वे छोटे-छोटे नजर आते हैं। इसी प्रकार नीचे के मनुष्यों को भी ऊपर वाला मनुष्य छोटा दिखाई देता है। इस तरह जो दूसरो को छोटा या हल्का समझता है, वह दूसरो से भी छोटा या हल्का ही समझा जाता है। जो व्यक्ति दूसरो को समान बनाना चाहता है और यह चाहता है कि दूसरे भी उसे समान मानें तो उसे दूसरो के साथ समान भूमिका पर खड़ा होना पड़ेगा। कहने का आशय यह है कि जो व्यक्ति अहंकार पर सवार है और अहंकार के कारण दूसरो को हल्का मानता है, उसको भी दूसरे हल्का ही समझते है। वास्तव मे महान् वही है जो नम्रता से युक्त है।

श्रीकृष्ण ने एक वृद्ध पुरुष की ईंटें उठाई थीं, इससे वे क्या छोटे हो गए थे? क्या ईंटें उठाते समय उन्होंने यह अभिमान किया था कि कहाँ मै द्वारिकाधीश और कहाँ यह बूढ़ा भिखारी! उन्होने ऐसा अभिमान नही किया तो वे महान् समझे गए या छोटे? धर्मरुचि मुनि ने कीड़ियो की दया के लिए अपना शरीर भी त्याग दिया। उन्होने विचार किया—यह विषमय शाक खाकर कीड़ियाँ मरे, इसकी अपेक्षा मै स्वयं इसे खाकर प्राण अर्पण कर दूँ तो क्या हर्ज है? उन्होंने विषमय शाक का आहार करते समय छोटे-बड़े का यह भेद नहीं किया कि कहाँ मै और कहाँ यह क्षुद्र

कीड़ियाँ! उन्होंने उस समय छोटे-बड़े का भेद करके अभिमान किया होता तो क्या वे जगत् के समक्ष ज्वलंत जीवदया का अनुपम आदर्श उपस्थित कर सकते? इस प्रकार सच्ची जीवदया वे ही कर सकते हैं जिनमें सच्चा मार्दव गुण होता है अर्थात् कोमलता या विनम्रता होती है। जिनमें कोमलता या विनम्रता नहीं होती वे प्रथम तो किसी प्राणी के प्रति दयाभाव प्रदर्शित ही नहीं कर सकते, कदाचित् प्रदर्शित करें भी तो वह दया बनावटी और दिखावे के लिए ही होती है। सच्ची भावदया तो वही व्यक्ति कर सकता है जिसमें सच्ची मृदुता होती है। अतएव सच्ची दया करने के लिये तुम भी अहंकार को जीतो और यह मानो कि सब जीव मेरे ही सरीखे हैं। दूसरों का हित करने से अपना हित होता है और दूसरों का अहित करने से अपना अहित होता है। तुम्हारे अन्तःकरण में ऐसी भावना दृढ़ होगी तो तुम भी सच्ची दया कर सकोगे। अहंकार या अभिमान को जीत कर अपने आत्मा को सरल तथा नम्र बनाओगे तो तुम अपना कल्याण करने के साथ दूसरों का भी कल्याण कर सकोगे। आत्मा को सरल और नम्र बनाने से स्व-पर का कल्याण होता है।



पचासवाँ बोल ।

भावसत्य



क्षमा, निरभिमानता, ऋजुता, विनयशीलता आदि गुणों के द्वारा आत्मा सरल और शान्त बनता है। आत्मा को कर्म-मैल से शुद्ध करने के लिए ऊपर के गुण धारण करना आवश्यक है। क्षमा आदि गुण धारण करने से किस प्रकार आत्मशुद्धि होती है, यह बात पहले विचारी जा चुकी है। अब गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से यह प्रश्न करते हैं कि अन्तःकरण की शुद्धि किस प्रकार होती है और उससे जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

मूल पाठ

प्रश्न—भावसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—भावसच्चेण भावविसोहिं जणयइ, भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरिहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ, अरिहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता परलोगधम्मस्स आराहए भवइ ॥५०॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भावसत्य (शुद्ध अन्तःकरण) से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—भावसत्य से हृदयविशुद्धि होती है और विशुद्ध अन्तःकरण वाला जीव ही अरिहंत प्रभु द्वारा प्रतिपादित धर्म की आराधना कर सकता है। और उस धर्म की आराधना मे उद्यत होकर परलोक में भी धर्म का आराधक बनता है।

व्याख्यान

भावसत्य के सम्बन्ध मे विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि भावसत्य किसे कहते हैं ? सत्य के चार भेद है। एक सत्य तो सिर्फ ऊपरी होता है। यह सत्य वास्तव मे सत्य नहीं है। यह पहला सत्य ऊपर से तो सत्य मालूम होता है पर भीतर से सत्य रूप नहीं होता। दूसरा सत्य ऐसा होता है कि वह ऊपर से भी सत्य मालूम होता है और भीतर से भी सत्य ही होता है। तीसरा सत्य वह है जो भीतर से तो सत्य रूप होता है मगर ऊपर से सत्य रूप नहीं होता। चौथा सत्य भीतर से भी सत्य रूप नही होता और बाहर से भी सत्य रूप नहीं होता। फिर भी उसे सत्य कहा जाता है। सत्य के यह चार अग अर्थात् प्रकार है।

श्रीस्थानांगसूत्र मे इस विषय मे एक उदाहरण देकर समझाया गया है। एक घड़ा ऐसा होता है जिसके भीतर विष भरा होता है पर उसका ढक्कन अमृतमय होता है। दूसरा घडा ऐसा है कि उसमे विष भरा है और उसका ढक्कन भी विषमय है। तीसरा घडा ऐसा होता है कि उसमे अमृत भरा है किन्तु उसका ढक्कन

विषमय है। चौथा घड़ा ऐसा है कि उसमें अमृत भरा है और ढक्कन भी उसका अमृतमय है। इस उदाहरण के अनुसार सत्य के भी चार प्रकार है।

भावसत्य के बिना आत्मा अर्हत् प्ररूपित धर्म की आराधना नहीं कर सकता। श्री उपनिषद् में भी कहा है कि विद्यापूर्वक की जाने वाली उपासना ही सच्ची उपासना है। अज्ञानपूर्वक की जाने वाली उपासना सच्ची उपासना नहीं है। उपनिषत्कार जिसे विद्या कहते है, उसे हम लोग सम्यग्ज्ञान, और दर्शन कहते हैं। उपनिषत्कार के कथनानुसार जब तक विद्यापूर्वक उपासना नहीं की जाती तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। जैन शास्त्र में भी कहा है:—

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पण्णत्तो जिणेहि वरदंसिहि ॥

—उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० २

अर्थात्—जिनेश्वर भगवान ने सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप को ही मोक्ष का मार्ग बतलाया है। तात्पर्य यह है कि यह चारों ही मोक्ष के मार्ग हैं।

मोक्षमार्ग का क्रम बतलाते हुए कहा गया है कि जिन्हें सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है उन्हें ही सम्यग्दर्शन होता है और जिन्हें सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है उन्हें ही सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है। अज्ञानी को सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता और जिसे सम्यग्दर्शन ही प्राप्त नहीं है उसे सम्यक्चारित्र प्राप्त नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में श्री उत्तराध्ययनसूत्र के २८ वे अध्ययन मे कहा है:—

नादंसणिस्स नाणं नाणेण विना न होंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

अर्थात्–जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ उसे सम्यग्ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र गुण नहीं प्राप्त हो सकता। सम्यक्चारित्र के अभाव में मुक्ति नहीं मिलती और मुक्ति मिले बिना निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इस कथन से यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि पहले सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है या सम्यग्दर्शन ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि निश्चय में तो सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति एक ही साथ होती है परन्तु व्यवहार में बोलने के क्रम से पहले सम्यग्ज्ञान बोला जाता है। वास्तव में तो दोनो एक ही साथ उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ—सूर्योदय होने पर प्रकाश पहले होता है या ताप ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि प्रकाश और प्रताप दोनो एक साथ ही सूर्य मे से निकलते है क्योंकि जिन किरणो से प्रकाश निकलता है उन्हीं किरणो मे प्रताप निकलता है। फिर भी बोलने मे पहले प्रकाश और फिर प्रताप बोला जाता है। इसी प्रकार जब ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है और मिथ्यात्वमोहनीय का उदय होता है तब मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु जब ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम के साथ मिथ्यात्वमोहनीय का भी क्षयोपशम होता है तब सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन एक ही साथ उत्पन्न होते हैं। सिर्फ बोलने के क्रम मे पहले सम्यग्ज्ञान और फिर सम्यग्दर्शन बोला जाता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र प्राप्त होने से ही मोक्ष मिलता है।

कहा जा सकता है कि सम्यक्चारित्र तो संयम धारण करने से ही प्राप्त हो सकता है। परन्तु सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और

सम्यक्चारित्र को भिन्न भिन्न कहा है। ऐसी स्थिति में जिन्होंने संयम धारण नहीं किया, उन्हें सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर भी मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस कथन का उत्तर यह है कि जिसमे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन होता है वह व्यवहार मे भले ही संयम धारण न कर सका हो अर्थात् चारित्र धारण न कर सका हो, फिर भी उसमे भाव से चारित्र का अंश होता ही है। व्यवहार में संयम न धारण करने पर भी जिनका आत्मा निज गुणो मे रमण करता है, उनमे भावचारित्र होता ही है।

संयम की तरह सत्य भी दो प्रकार का होता है—व्यावहारिक और पारमार्थिक। पारमार्थिक सत्य ही भावसत्य कहलाता है। भावसत्य होने पर ही भावशुद्धि हो सकती है। पारमार्थिक सत्य किसे कहते है, यह बात समझाने के लिये श्री आचारांगसूत्र मे कहा है—

समयं ति मण्णमाणे समया वा असमया वा समया होइ त्ति उव्विहाए।

अर्थात्—जिसे तू सत्य मानता है अर्थात् जिस विषय मे तेरे हृदय मे किसी प्रकार का संदेह नहीं है वह तेरे लिये सत्य रूप ही है।

इस प्रकार का आध्यात्मिक सत्य (भावसत्य) अपनाने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। भावसत्य को अपनाये विना नौ पूर्वो का ज्ञान प्राप्त करने वाले ज्ञानी भी आत्मकल्याण साधे बिना ही रह जाते है। ऐसे ज्ञानीजनो के उपदेश से धर्मोन्मुख हुए लोग तो मोक्ष पा भी लेते है परन्तु भावसत्य न अपनाने के कारण वे ज्ञानी जैसे के तैसे ही रह जाते है। इससे भावसत्य की महिमा समझ मे आ सकती है।

भावसत्य को अपनाने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—भावसत्य द्वारा भाव की विशुद्धि होती है अर्थात् चित्त की शुद्धि होती है। भावविशुद्धि द्वारा जीवात्मा अर्हन्त-प्ररूपित धर्म की आराधना कर सकता है। जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है वह अर्हन्त भगवान् हैं। अर्हन्त भगवान द्वारा जिस धर्म की प्ररूपणा की गई है वह धर्म अर्हन्त प्ररूपित धर्म कहलाता है। जब भावसत्य द्वारा भावशुद्धि होती है, तभी अर्हन्त प्ररूपित धर्म की आराधना हो सकती है। चित्त की शुद्धि ही धर्माराधना का मार्ग है। श्रावक-श्राविका जो धर्मकार्य करते हैं, उसका उद्देश्य चित्त की शुद्धि करना ही है। अतएव धर्म की आराधना करने के लिए चित्तशुद्धि करना आवश्यक है।

जो बात हम जान या देख नहीं सकते, भगवान् उसे भी जानते हैं। अगर कपटपूर्वक सत्य बोला जाय तो भगवान की दृष्टि में ऐसा सत्य भी असत्य ही है। इससे विपरीत कपटरहित सरल भाव से बोला गया असत्य भी सरल आत्मा की दृष्टि से सत्य ही है।

कहने का आशय यह है कि जीवन में भावसत्य को अपनाने से ही चित्त की शुद्धि होती है। और चित्त की शुद्धि से ही अर्हन्त-प्ररूपित धर्म की आराधना हो सकती है। धर्म की आराधना करने से किसी भी समय कष्ट उत्पन्न नहीं होता। कदाचित् कोई कष्ट उत्पन्न भी हो तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह धर्म की आराधना के कारण उत्पन्न हुआ है। शक्कर कदापि कडुवी नहीं हो सकती, परन्तु किसी कारण से अगर शक्कर कडुवी लगे तो यही कहा जा सकता है कि वह कडुवापन किसी और वस्तु का होगा, जो शक्कर में मिल गई है। भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि जिनमें भाव-

सत्य होता है उनके भावों मे विशुद्धता आती है और जिनमे भावों की विशुद्धता होती है वही धर्म की भलिभाँति आराधना कर सकते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्म की भलीभाँति आराधना करता है वही परलोक की भी आराधना कर सकता है।

अरिहन्त भगवान ने जो कुछ, कहा है वह पूर्ण रूप से तभी समझ में आता है जब हृदय के भाव शुद्ध बनते हैं। मैंने जो भी कोई ग्रन्थ या शास्त्र देखे या समझे है, उन सब मे प्रधान रूप से चित्त को शुद्ध करने की ही बात आई है। समस्त शास्त्रकारो ने तथा नीतिकारो ने चित्तशुद्धि को प्रधानता दी है, ऐसा मैंने समझा है। भगवान् महावीर ने तेरह बोलो का अभिग्रह किया था। भगवान का अभिग्रह क्या है, यह बात साधारण लोग समझ नहीं सकते थे। किन्तु भगवान् का चित्त शुद्ध था, अतएव वे चन्दनबाला की आँख में आँसू न देखने से और इस प्रकार अपने अभिग्रह की पूर्ति मे एक बोल की कमी होने के कारण चन्दनबाला के द्वार पर जाकर वापिस लौट गए थे। सीताजी का चित्त शुद्ध था। इसी कारण उन्होंने सहर्ष कष्ट सहन करना स्वीकार किया परन्तु राम के सिवाय अन्य पुरुष को पति के रूप मे स्वीकार नहीं किया। अगर सीताजी का चित्त शुद्ध न होता तो वह इस प्रकार कष्ट सहन करने के लिये तैयार न होती। इस प्रकार चित्तशुद्धि, भावशुद्धि या आत्म-शुद्धि को सभी ने महत्व दिया है। आत्मशुद्धि का महत्व कितना अधिक है, यह बात केशी-गौतम के संवाद में स्पष्ट रूप से बतलाई गई है। केशी कुमार स्वामी आत्मा की स्थिति बतलाते हुए गौतम स्वामी से पूछते हैं—

अणेगाणं सहस्साणं मज्झे चिट्ठसि गोयमा।
ते य ते अहिगच्छंति कहं ते निज्जिया तुमे॥

—उत्तरा० २३-३५

अर्थात्--हे गौतम ! हजारों वैरियों के बीच में तुम निवास कर रहे हो, वे तुम्हारे सामने जूझ रहे हैं, तुम उन सब को किस प्रकार जीत सकते हो ?

केशी स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी ने बतलाया—

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ता णं, सव्वसत्तू जिणामि हं ॥

अर्थात्—मैं सिर्फ एक (आत्मा) को जीतने का सतत प्रयत्न करता हूँ, क्योंकि उस एक को जीतने से पाँच और पाँच को जीतने से दस और दस को जीतने से समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त हो जाती है।

गौतम स्वामी का यह उत्तर सुन कर केशी स्वामी ने फिर प्रश्न किया—हे गौतम ! तुम शत्रु किसे कहते हो ? और एक को जीतने से पाँच, पाँच को जीत लेने से दस तथा दस को जीत लेने से समस्त शत्रु जीत लिये जाते हैं, यह सब तुम किसके विषय में कहते हो ? इस प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी ने कहा—

एगप्पा अजिए सत्तू कसाया इंदियाणि य ।
ते जिणित्ता जहानायं विहरामि अहं मुणी ॥

अर्थात्—हे मुनि ! एक (मन की दुष्प्रवृत्ति के आधीन बना हुआ) जीवात्मा अगर जीता न जाय तो वह शत्रु है। (आत्मा को न जीतने से कषायों की उत्पत्ति होती है।) इस शत्रु के प्रताप से चार कषाय भी शत्रु हैं और पाँच इन्द्रियाँ भी शत्रु है। इस प्रकार सम्पूर्ण शत्रुपरम्परा को जैन शासन के न्याय के अनुसार जीत कर मैं शान्तिपूर्वक विहार करता रहता हूँ।

क्रोध, मान, माया और लोभ—यह चार कषाय हैं। इनकी न्यूनाधिकता-तरतमता—के कारण कषाय के सोलह भेद होते हैं। दुष्ट मन भी शत्रु है। पाँच इन्द्रियों का असत् वेग होने से यह भी शत्रुओं जैसा काम करती हैं। मगर इन सब का मूल एक मात्र दुरात्मा है। अतएव दुरात्मा को जीत लिया जाय तो सरलता के साथ सब को जीता जा सकता है। जैन शास्त्रों की नीति के अनुसार बाहर के युद्ध की अपेक्षा आत्मयुद्ध करना उत्तम है। क्षमा, दया, तपश्चर्या और त्याग आत्मयुद्ध के शस्त्र हैं। इन्हीं शस्त्रों के कर्मशत्रु नष्ट होता है।

गौतम स्वामी ने जो कुछ कहा है वही अनाथी मुनि ने भी राजा श्रेणिक से कहा था। अनाथी मुनि ने श्रेणिक राजा से कहा था–दुःख और सुख, नरक और स्वर्ग तथा शत्रु और मित्र आत्मा ही है, दूसरा नहीं। अगर हमारा आत्मा शुद्ध है तो समस्त वस्तुएँ शुद्ध स्वरूप में दिखाई देंगी। आत्मा अगर अशुद्ध हुआ तो किसी भी वस्तु का वास्तविक स्वरूप नहीं देखा जा सकता। कूटशाल्मली वृक्ष, वैतरणी नदी अथवा कामधेनु गाय या नन्दन वन अर्थात् समुच्चय रूप में तमाम सुख और दुःख अथवा स्वर्ग या नरक, अपना आत्मा ही है। यह तथ्य भलीभांति समझने के कारण ही ज्ञानी जन सुख के समय फूल कर कुप्पा नहीं हो जाते और दुःख के समय घबरा नहीं जाते। वे समभाव ही रखते हैं। ज्ञानी जनों का कथन है कि जब नरक या कूटशाल्मली वृक्ष के दुःख अपनी आत्मा में से ही उत्पन्न होते हैं तो फिर नरक या शाल्मली वृक्ष को खराब क्यों कहा जाय? अगर हम अपनी आत्मा को जीत लें तो यह दुःख हमारे पास ही नहीं फटक सकते। एक आत्मा को भलीभांति जीत लेने से समस्त दुःख जीते जा सकते हैं। आत्मा को न जीतने की

हालत में दुःखों का टूट पड़ना स्वाभाविक है। दुःख दूर करने के लिए आत्मा को जीतना आवश्यक है।

सूर्य और दीपक—दोनों प्रकाश देते है। सूर्य स्वतन्त्र रूप से प्रकाश देता है परन्तु दीपक तेल देने पर ही प्रकाश दे सकता है। दीपक मे तेल न दिया जाय तो वह बुझ जाएगा। ज्ञानी जनों का कथन है कि हमारा आत्मा सूर्य से भी अधिक स्वतन्त्र है। आत्मा जब तक परतन्त्र है तभी तक वह दुःखी है। अगर वह परतन्त्र न बने तो उसे किसी भी प्रकार का दुःख उत्पन्न नहीं हो सकता।

गौतम स्वामी का कथन सुनकर केशी स्वामी ने कहा—आपने मेरे प्रश्नों का जो उत्तर दिया है वह समीचीन है। मेरे कहने का आशय भी यही था। आप वास्तव मे जितात्मा हैं। आपने क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चतुर्विध कषायों को जीत कर आत्मा पर विजय प्राप्त की है। द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा, इन आठ प्रकार की आत्माओं में से केवल एक कषायात्मा को जीत कर आपने आत्मविजय प्राप्त की है। वास्तव मे कषाय ही संसार है, क्योंकि चार कषाय ही संसार को बढ़ाने वाले है। जो व्यक्ति चार कषायों को जीत लेता है वही आत्मविजय प्राप्त करके संसार का उच्छेद कर सकता है।

सुना जाता है कि युरोप में युद्ध की तैयारियाँ हो रही है। पाश्चात्य लोग युद्ध की तैयारी कर रहे हैं तो तुमने भी क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी आन्तरिक शत्रुओं को जीतने की तैयारी की है या नहीं? बाह्य युद्ध की अपेक्षा आन्तरिक युद्ध करना उचित है। बाह्य युद्ध करने में मान व हिंसा, रक्तपात तथा धन-जन की हानि तो होती ही है, साथ ही दूसरों को लूटने की, पददलित करने

की मनोवृत्ति—वैरवृत्ति भी हृदय में उत्पन्न होती है। ज्यों-ज्यों वैरवृत्ति बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों संसार में अशान्ति का साम्राज्य बढ़ता जायगा और परिणाम यह होगा कि संसार में सुख और शान्ति अदृश्य हो जाएगी। इससे विपरीत अगर वैरवृत्ति का त्याग करके क्रोध, मान, माया और लोभ को, जिनके कारण संसार में विध्वंस-कारी विप्लव जागता है, जीतने के लिए कषायात्मा के साथ दया, क्षमा आदि अहिंसात्मक शस्त्रों द्वारा आन्तरिक युद्ध किया जाय तो दूसरों को लूटने की, पददलित करने की जो मलीन वृत्ति है, उस पर विजय प्राप्त किया जा सकता है। वैर पर विजय प्राप्त करने से आत्मशान्ति तो मिलेगी ही, विश्व में भी शान्ति स्थापित हो जाएगी। विश्व में सुख-शान्ति स्थापित करने के लिए दया, क्षमा आदि अहिंसात्मक साधनों द्वारा कषायात्मा को जीतना ही एक मात्र अमोघ मार्ग है। आज 'शठं प्रति शाठ्य' अर्थात् वैर का बदला वैर से लेने की नीति प्रयोग में लाई जा रही है। मगर इस प्रकार के वैरयुक्त व्यवहार से संसार में कदापि सुख-शान्ति की स्थापना नहीं हो सकी है और न हो सकती है। क्योंकि शान्ति स्थापित करने का यह मार्ग ही नहीं है। शान्ति स्थापित करने का सच्चा और अमोघ मार्ग तो 'शठ प्रत्यपि सत्यम्' अर्थात् वैर का बदला भी क्षमा से देना है। विश्वशान्ति की स्थापना तो तभी हो सकती है जब थप्पड़ का बदला भी क्षमा से दिया जाय। शास्त्रकार तो बहुत प्राचीन समय से ही पुकार-पुकार कर यह बात कह रहे हैं; परन्तु अब गांधीजी जैसे राजनीतिज्ञ भी यही कहते हैं। दूसरों को शान्ति पहुँचाने से ही शान्ति प्राप्त हो सकती है। दूसरों को अशान्त करके स्वयं शान्ति की अभिलाषा करने से शान्ति नहीं मिल सकती। अशान्ति बढ़ाने से शान्ति नहीं वरन् अशान्ति ही फैलेगी।

सन् १९१४ में अंग्रेजो और जर्मनो के बीच महायुद्ध हुआ था। कहा जाता है कि इस युद्ध में अंग्रेजो ने जर्मनो को पराजित किया था और शान्ति स्थापित की थी। परन्तु वह शान्ति राख ढकी अग्नि के समान किस प्रकार उत्पात मचाने वाली थी, यह आज प्रत्यक्ष देखा या सुना जा सकता है। इस घटना से इतना सार अवश्य निकलता है कि शास्त्रबल से किसी को थोड़े समय के लिए भले ही पराजित कर दिया जाय परन्तु ऐसा करने से शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। जब तक हृदय में से वैरवृत्ति नहीं निकल जाती तब तक अशान्ति नहीं मिट सकती। अशान्ति को दूर करना आवश्यक है। दूसरों को शान्ति पहुँचाने से ही शान्ति उत्पन्न हो सकती है। वैर का बदला वैर से लेने से तो वैर ही बढ़ता है। अतएव वैरवृत्ति का विनाश करने के लिए तथा विश्व में शान्ति की स्थापना के लिए कषायात्मा को जीतना अनिवार्य है। जो आत्मा मैत्रीपूर्ण आचार और विवेकपूर्ण विचार द्वारा कषाय को जीतने का प्रयत्न करता है वह कषाय को जीत सकता है और विश्व मे शान्ति भी स्थापित कर सकता है।

प्रश्न हो सकता है कि किस प्रकार जाना जा सकता है कि हमने कषाय को जीत लिया है ? इस प्रश्न का सामान्य उत्तर यही दिया जा सकता है कि अपने व्यवहार से ही पता लग सकता है कि वास्तव मे हमने कषाय को जीत लिया है या नही।

आचार और विचार के एकीकरण से ही इष्ट कार्य की सिद्धि होती है। निश्चय और व्यवहार मे आचार तथा विचार एक ही होना चाहिए। महापुरुषो की मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति एक ही प्रकार की होती है।

मनस्येकं वचस्येकं कार्ये चैकं महात्मनाम् ।

अर्थात्—महात्माओं के मन में, वचन में तथा कार्यों में एक ही सरीखी प्रवृत्ति होती है।

जो व्यक्ति क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत लेता है, उस व्यक्ति का व्यवहार सरल बन जाता है। निश्चय में जो कषाय-विजयी होता है वह व्यवहार में भी कषायजित कहलाता है। गौतम स्वामी के व्यवहार से ही केशी स्वामी ने उन्हें जितात्मा तथा कषाय-विजयी कहा था। गौतम स्वामी का निश्चय, व्यवहार में न उतरा होता तो केशी स्वामी उन्हें कषायविजयी के रूप में किस प्रकार पहचान सकते थे? गौतम स्वामी के व्यवहार ने ही प्रकट कर दिया कि उनमें क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं है। जो निश्चय में होता है वही व्यवहार में आता है। व्यवहार से ही निश्चय का पता लगता है। जब कोई वृक्ष ऊपर से हरा-भरा दिखाई देता है तो उसकी जड़ भी हरी-भरी होने का अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रकार व्यवहार से निश्चय का अनुमान किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त निश्चय के साथ व्यवहार की भी आवश्यकता रहती है। केवल निश्चय या केवल व्यवहार को पकड़ कर बैठ जाने से काम नहीं चल सकता। निश्चय और व्यवहार दोनों से ही इष्ट कार्य सिद्ध होता है। वर्षा हो मगर बीज या अंकुर न होगा तो क्या उगेगा? इसी प्रकार बीज या अंकुर हो मगर वर्षा न हो तो भी अंकुर कैसे बढ़ेगा? वर्षा हो और बीज भी हो, तभी अंकुर उग सकता है। इसी तरह निश्चय और व्यवहार दोनों से ही काम चल सकता है, किसी एक से नहीं।

संसार में अनेक मत मतान्तर हैं। इन मत मतान्तरों की विपुलता के कारण लोगों की बुद्धि चक्कर में पड़ गई है। पर हमें तो वही मानना चाहिए जो केशी स्वामी और गौतम स्वामी ने कहा है।

हमें वही बात मान्य होनी चाहिए जो वीतराग प्रभु सर्वज्ञ तीर्थंकर ने बतलाई है। अगर कोई बात हमारी समझ में न आवे तो भी अपने हृदय में ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि:—

तमेव सच्चं निस्संकियं जं जिणेहि पवेइयं—एवं सद्दहमाणा, एवं पत्तयमाणा, एवं रोयमाणा, देवाणुप्पियाणं आणाए आराहियं भवइ ?

हंता, गोयमा ! भवइ।

अर्थात्—कदाचित् कोई बात अपनी बुद्धि में न आती हो तो उस पर हृदय में ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि वीतराग जिन भगवान् ने जो कुछ कहा है, वह सत्य है और उसके विषय में मुझे किसी भी प्रकार का संदेह नहीं है। मैं उनके कथन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि रखता हूँ। गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा— इस प्रकार कह कर जो आपके वचन पर श्रद्धा रखता है वह आराधक है ? भगवान् ने उत्तर दिया—हाँ, गौतम ! वह जीव आराधक है। इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् ने जो कुछ कहा है, वह अपनी बुद्धि में न आवे तो भी उनके कथन पर श्रद्धा रखनी चाहिए। श्रद्धा आत्मा को प्रकाशित करने वाली दीपिका है—आत्मा को ज्योतिर्मयी बनाने वाला दिव्य दीपक है।

कहने का आशय यह है कि चित्त की शुद्धि अथवा भाव-विशुद्धि का महत्व केशी महाराज तथा गौतम स्वामी ने भी बतलाया है। अतएव भावसत्य द्वारा चित्त को शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। संसार में संयोग तो अनेक प्रकार के प्राप्त होते हैं परन्तु उन संयोगों के कारण अपने भावों में अशुद्धता नहीं आने देना

चाहिए। विषम संयोग प्राप्त होने पर भी अंजना सती की भाँति चित्त को शुद्ध रखना चाहिए।

भावसत्य का फल बतलाते हुए भगवान् ने बतलाया है कि भावसत्य से हृदय की शुद्धि होती है। भावविशुद्धि से करण और योग की विशुद्धि होती है। इस प्रकार विशुद्ध अन्तःकरण वाला जीवात्मा अर्हत्प्ररूपित धर्म की आराधना कर सकता है और जो अर्हत्प्ररूपित धर्म की आराधना करता है वही परलोक मे धर्म की आराधना कर सकता है।

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि अर्हत्-धर्म की आराधना और परलोक की आराधना क्या भिन्न भिन्न है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहाँ दोनो को भिन्न कहकर लक्षण द्वारा दोनो का सम्बन्ध बतलाया गया है। इस लक्षण द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि अर्हत् धर्म की आराधना आस्तिक ही कर सकता है। जो आस्तिक नहीं है—नास्तिक है, वह अर्हत्-धर्म की आराधना नही कर सकता।

भगवान् महावीर के युग मे भी अनेक नास्तिक थे और आजकल तो इस मत की बहुत प्रबलता हो गई है। आधुनिक भौतिक विज्ञानवेत्ता भी कहते हैं कि पाँच भूतों के सम्मिलन से जीवन पैदा होता है और जब पाँचों भूत बिखर जाते है तो मृत्यु हो जाती है। कोई आत्मा न परलोक में जाता है, न परलोक से आता है। आत्मा जब तक रहता है तभी तक जीवन है और उसी का हट जाना मृत्यु है। भृगु पुरोहित के पुत्र देवभद्र तथा यशोभद्र जब संयम धारण कर रहे थे, तब उसके पिता भृगु ने कहा था:—

जहा य अग्गी अरणी असंतो,
खीरे घयं तेल्लमहातिलेसु ।
एमेव ताया ! सरीरंसि सत्ता,
संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥

अर्थात्—जैसे अरणि में अग्नि, दूध में घी और तिल में तेल प्रत्यक्ष से न दिखाई देने पर भी संयोगबल से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार, हे बालको ! पंचभूतात्मक शरीर में से जीवात्मा उत्पन्न होता है और शरीर के नाश के साथ ही वह नष्ट हो जाता है । शरीर का नाश होने के पश्चात् चेतन नहीं रहता । (तो फिर धर्म किस लिए ? और संयम लेने की क्या आवश्यकता है ?)

चार्वाक मत का कथन है कि पाँच महाभूतों से ही कोई शक्ति उत्पन्न होती है और शरीर के साथ ही वह क्षीण हो जाती है। परन्तु वास्तव में चेतना शक्ति का क्षय कभी हो ही नहीं सकता । अरणि में अग्नि, दूध में घी, और तिल में तेल भले ही प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न हो, तथापि वह अव्यक्त रूप से रहता अवश्य है । इसी प्रकार शरीर धारण करते समय कर्म से लिप्त चेतन तत्व विद्यमान होता है और शरीर क्षीण होने पर दूसरे शरीर में चला जाता है। पिता के कथन के उत्तर में पुत्रों ने कहा था:—

नो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ।
अज्झत्थहेउं नियमस्स बंधो,
संसारहेउं च वयंति बंधं ॥

—उत्तरा०, १४, १९

अर्थात्—पिताजी ! आत्मा अमूर्त होने के कारण इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। और अमूर्त होने के कारण ही वह नित्य भी है। आत्मा यद्यपि नित्य है, तथापि जीवात्मा में अज्ञान आदि दोष मौजूद होने के कारण वह कर्मों से बद्ध होता है। यह बंधन ही संसार-परिभ्रमण का कारण है, ऐसा महापुरुषों का कथन है।

जितने अमूर्त्त द्रव्य है, सभी नित्य है। आकाश अमूर्त्त है तो वह नित्य है। परन्तु आकाश द्रव्य मे जीव की तरह पर-संयोग से परिणमन नहीं होता जब कि जीवात्मा (कर्म-बद्ध आत्मा) कर्म के वश होकर छोटे बड़े आकारो में परिणत होता है और उच्च-नीच गतियो में गमन करता है।

आत्मा अमूर्त्त होने से इन्द्रियग्राह्य नहीं है। इन्द्रियाँ एक-एक विषय को ही ग्रहण करती हैं। जो विषय जिस इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है, उस विषय को दूसरी इन्द्रिय ग्रहण नहीं कर सकती। सुनने का काम कान और देखने का काम आँख ही कर सकती है। अगर कोई व्यक्ति सुनने के लिए कान बंद करके आँख खुली रक्खे अथवा देखने के समय आँख बंद करके कान खुला रक्खे तो वह सुन या देख नहीं सकता। कारण यही है कि इन्द्रियाँ अपने अपने विषय को ही ग्रहण कर सकती है। परन्तु आत्मा सब के विषय को ग्रहण कर लेता है। और आत्मा होने के कारण ही इन्द्रियाँ अपने अपने विषय को ग्रहण करने में शक्तिमान् होती है। आत्मा जब शरीर मे से निकल जाता है तो इन्द्रियाँ शरीर मे रहती हुई भी अपने विषय को ग्रहण करने मे असमर्थ हो जाती हैं। मृत व्यक्ति की इन्द्रियाँ मृतक शरीर मे मौजूद तो रहती है, लेकिन आत्मा के अभाव में वह काम नहीं कर सकतीं। इससे यह भलीभांति सिद्ध

हो जाता है कि आत्मा की मौजूदगी में ही इन्द्रियाँ अपना विषय ग्रहण कर सकती हैं। इस प्रकार आत्मा सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रियों का स्वामी है।

आत्मा की विद्यमानता में ही प्रत्येक काम हो सकता है। राजा भी तभी तक दण्ड दे सकता है जब तक शरीर मे आत्मा है। आत्मा के निकल जाने पर राजा भी शरीर को दण्ड नही देता। आत्मा-विहीन शरीर या तो भस्म कर दिया जाता है या जमीन मे गाड़ दिया जाता है।

पुरोहित के पुत्र कहते है--आत्मा स्थूल आँखो से देखा नही जा सकता। वह अन्य इन्द्रियों द्वारा भी नही जाना जा सकता। वह आत्मा अमूर्त्त है। अमूर्त्त आत्मा मूर्त्त इन्द्रियों द्वारा किस प्रकार जाना जा सकता है? आत्मा भले ही इन्द्रियग्राह्य नहीं है, फिर भी उसका अस्तित्व मानना पड़ता है। आत्मा को मान बिना काम नहीं चल सकता। परन्तु बहुत से नासमझ लोग नास्तिको की कल्पित बातों में इसलिए फँस जाते हैं कि आत्मा न मानने से दान, धर्म, तप, शील आदि कुछ भी नहीं करना पड़ता और जीवन विषयभोग मे व्यतीत हो जाता है। इस प्रकार विषयानन्द मे फँस कर लोग नास्तिकता स्वीकार कर लेते है। परन्तु जिन महापुरुषो ने विषयसुख तथा संसार-सम्पदा का त्याग किया है उन पर अविश्वास करके आत्मा को स्वीकार न करना और जो विषय-सुख के दास बने हुए हैं उनके कथन पर विश्वास करके, विषय-लोलुप बनकर जीवन को नष्ट-भ्रष्ट करना कहाँ तक उचित है? इस प्रश्न पर गम्भीर विचार करना आवश्यक है।

देवभद्र और यशोभद्र अपने पिता भृगु पुरोहित से कहते है—पिताजी! आप आत्म तत्त्व को भूल कर ही ऐसा कह रहे है

कि आत्मा और शरीर भिन्न भिन्न नहीं हैं किन्तु दूध मे घी की तरह शरीर में ही जीवनशक्ति है। सचाई यह है कि आत्मा और शरीर तलवार तथा म्यान की तरह जुदा जुदा है। तलवार और म्यान अलग-अलग है फिर भी तलवार म्यान मे रहती है। इसी प्रकार आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न है पर आत्मा शरीर मे रहता है। आत्मा अमूर्त्त तथा अविनाशी है। शरीर मूर्त्त और विनश्वर है। आत्मा अजर अमर और शरीर शीर्ण होने वाला है।

प्रश्न हो सकता है कि अगर आत्मा अमूर्त्त और अविनाशी है तो मूर्त्त और विनश्वर शरीर के साथ उसका सम्बन्ध किस प्रकार हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मिथ्यात्व आदि कारणों से ही आत्मा जन्म धारण करता है और मरता है। आत्मा का जैसा अध्यवसाय होता है, वैसा ही उसका जन्म-मरण होता है।

कुछ लोग कहते है कि परमात्मा ही आत्मा को उत्पन्न करता और मारता है, परन्तु गम्भीर विचार करने पर यह कथन किसी भी प्रकार ठीक और युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। इस संबंध मे गीता में भी स्पष्ट कहा है:—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥

अर्थात्—परमात्मा कर्त्ता नहीं है, कर्म कराता नहीं है, लोक का सर्जन करता नहीं है और न किसी को दण्ड ही देता है। यह सब तो स्वभाव से ही होता है। जैसे मुंह मे मिर्च डालने से चरपराहट लगती है और शक्कर डालने से मिठास मालूम होती है, उसी प्रकार कर्म का फल भी स्वभावतः मिलता है। परमात्मा कर्म का

फल देने या जन्म मरण कराने के झगड़े में नहीं पड़ता। ऐसा होने पर भी कुछ लोग परमात्मा या काल आदि पर सारी जिम्मेवरी डाल कर कहते हैं—'हम क्या करें? काल ही ऐसा आ गया है। परमात्मा ने ही यह सब किया है। परन्तु इस प्रकार परमात्मा या काल आदि पर बोझा डालना अज्ञान है।

शास्त्र कहता है कि तुम्हीं कर्म के कर्त्ता और तुम्हीं कर्म के भोक्ता हो। तुम स्वयं अपना सुधार या बिगाड़ कर सकते हो। स्वभाव, काल आदि की सहायता तुम्हारे कार्य में अपेक्षित अवश्य है, परन्तु कर्म के कर्त्ता तो तुम स्वयं हो। तुम पुरुषार्थ करोगे तो तुम्हारे कार्य में काल आदि की सहायता भी तुम्हें मिलेगी। कहावत है—'हिम्मते मरदां मददे खुदा।' इस कहावत का आशय यह है कि तुम हिम्मत रक्खोगे तो दूसरों की सहायता भी तुम्हें मिल जायगी। हाँ, तुम पुरुषार्थ या प्रयत्न नहीं करोगे तो दूसरों की सहायता से वंचित रहोगे। अतएव अपना उत्तरदायित्व दूसरों पर मत डालो। अपना काम आप ही करना होगा।

पुत्रों का युक्तिसंगत कथन सुन कर भृगु पुरोहित समझ गया। भृगु पुरोहित ने तथा उनकी पत्नी ने देवभद्र और यशोभद्र को संयम ग्रहण करने की सहर्ष अनुमति दी। इतना ही नहीं, किन्तु स्वयं भी संयम ग्रहण करके आत्म कल्याण किया। शास्त्रकारों ने यह घटना शास्त्र में सुरक्षित रक्खी है। इस घटना से सार ग्रहण करके तुम भी आत्मसुधार करके आत्मकल्याण करो।

कहने का तात्पर्य यह है कि आस्तिक ही अर्हत्-प्ररूपित धर्म की आराधना कर सकता है और जो अर्हत्-प्ररूपित धर्म की आराधना करता है वही वास्तव में आस्तिक है। इस प्रकार भग-

वान् महावीर ने भावसत्य को ही धर्म की आराधना का मूल कारण बतलाया है। अतएव धर्म की आराधना करने के लिए भावसत्य को जीवन में स्थान दो और हृदय की शुद्धि करो। इसी में आत्मा का कल्याण है।

इक्यावनवाँ बोल ।

करणसत्य

पिछले बोल मे भावसत्य का विचार किया गया है। भावसत्य से होने वाले लाभ के विषय में भगवान् ने कहा है-भावसत्य से जीवात्मा भावविशुद्धि प्राप्त करता है और भावविशुद्धि से करण तथा योग की भी विशुद्धि होती है। अब गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से पूछते है कि करणसत्य क्या है ? और उससे जीवात्मा को क्या लाभ होता है ? प्रश्नोत्तर यह है:—

मूल पाठ

प्रश्न—करणसच्चेणं भंते ! जीवे कि जणयइ ?

उत्तर—करणसच्चेणं करणसत्ति जणयइ । करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहा कारो यावि भवइ ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न-भगवन् ! करणसत्य से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर-करणसत्य (सत्य प्रवृत्ति करने) से सत्य क्रिया करने की शक्ति उत्पन्न होती है और सत्यप्रवृत्ति में स्थित जीवात्मा जैसा कहता है वैसा ही करता है।

व्याख्यान

करण का सामान्य अर्थ है—साधन। कर्त्ता जिस साधन की सहायता से क्रिया करता है उस साधन को 'करण' कहते हैं। जैसे कुंभार चाक की सहायता से घड़ा बनाता है, अतएव चाक करण है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ भी करण हैं। कर्त्ता इन इन्द्रियों से जैसा चाहे वैसा काम ले सकता है। आत्मा (कर्त्ता) संसार की वृद्धि करने में भी इन्द्रियों का उपयोग कर सकता है और संसार से मुक्त होने में भी उपयोग कर सकता है।

आज लोग साधारण कलम के लिए भी परतन्त्र हो रहे हैं। प्राचीन समय में बरू की कलम बनाई जाती थी, मगर अब तो होल्डर और फाउंटेनपेन का प्रचार बढ़ गया है। लोग समझते हैं कि सुभीते के साधन बढ़ जाने से हम सुखी हो गए हैं, पर वास्तव में इन साधनों द्वारा सुख नहीं बढ़ा, परतंत्रता ही बढ़ी है और खर्च भी बढ़ गया है। पहले बरू की कलम बनाने में कितना कम खर्च होता था? मैं जब संसारावस्था में था तो बाजार से कुछ बरू खरीद लाया था। मैं जब तक संसारावस्था में रहा तब तक वे बरू काम में आते रहे और जो बचे वे मेरे दीक्षा लेने के बाद दूसरों के काम आये होंगे। इस प्रकार पहले थोड़े से खर्च में काम चल सकता था और परतन्त्रता भी नहीं भोगनी पड़ती थी।

जैसे लिखने के लिए कलम करण है, उसी प्रकार कलम बनाने के लिए चाकू करण है। तुम लोग बम्बई जाते हो। जिस साधन से तुम बम्बई जाते हो वह साधन चाहे रेलगाड़ी हो, मोटर

हो या हवाई जहाज हो, करण है। इसी तरह आत्मा के लिए इन्द्रियाँ करण है। आत्मा चाहे तो इन्द्रियों द्वारा संसारवृद्धि भी कर सकता है और चाहे तो संसार से मुक्त होने के काम भी कर सकता है।

भगवान् कहते हैं-करण सत्य से करण में सत्यता आती है और जब करण में सत्यता आती है तो जीव जैसा कहता है वैसा ही करके दिखा देता है। अगर उससे कोई काम नहीं हो सकता तो वह स्पष्ट कह देता है। जैसे आनन्द आदि श्रावकों ने भगवान् से कहा था कि हम में संयम धारण करने की शक्ति नहीं है, मगर हम जो बात स्वीकार करेंगे, उसका पूर्ण रूप से पालन करेंगे।

करण में सत्यता होगी तो कार्य भी बराबर सिद्ध होगा। चाकू अच्छा होगा तो कलम भी अच्छी बन सकती है। अगर चाकू ही अच्छा न हुआ तो खराब चाकू से कलम की नोंक ठीक नहीं निकलेगी। इसी भांति जिस व्यक्ति में करण सत्य होगा, वह जैसा बोलेगा वैसा ही कर दिखाएगा। करण में सत्यता आजाने से कार्य में सरलता आए बिना नहीं रहती। जब करण में सत्यता आजायगी तो हाथी के दांत खाने के और तथा दिखाने के और, इस लोकोक्ति के अनुसार कहना कुछ, करना कुछ की भिन्नता नहीं रह सकती। फिर तो जैसा उच्चार होगा, वैसा ही आचार होगा। अर्थात् वाणी तथा व्यवहार में भिन्नता नहीं रह जाएगी।

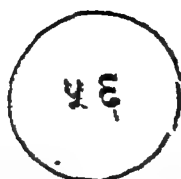
आजकल के लोग प्रायः उच्चार के अनुसार आचार नहीं करते, अर्थात् कहने के अनुसार कार्य नहीं करते। मानो, वे यह सोचते हैं कि उच्चार के पश्चात् आचार की आवश्यकता ही क्या है! परन्तु शास्त्र कहता है कि वाणी के अनुसार कार्य न करने का कारण करणसत्य का अभाव ही। जिसमें करणसत्य होगा वही

व्यक्ति उच्चार को आचार मे उतारेगा। जो व्यक्ति जैसा बोलता है वैसा ही आचरण करता है, वही व्यक्ति लोक में प्रशंसा का पात्र बनता है। अरब देश के विषय मे कहा जाता है कि वहां के लोग बहुत कम झूठ बोलते हैं। यह उन लोगों के लिए प्रशंसा की बात है, मगर भारतवासी कैसा बोलते हैं, इस बात का विचार करो। भारतीय झूठ तो नहीं बोलते ? अगर कहा जाय कि भारत में झूठ बोले विना काम नहीं चलता, इस कारण झूठ बोलना पड़ता है तो इसका उत्तर यह है कि वास्तव मे सत्य बोले विना काम नहीं चल सकता। उदाहरणार्थ—किसी आदमी को खूब भूख लगती। वह झूठ बोलता है। कहता है–'मुझे भूख नहीं लगी।' ऐसी दशा में क्या उसका काम चल सकेगा ? उसका भूख का दुःख दूर हो सकेगा ? अगर यह कहा जाय कि ऐसी जगह झूठ बोलने से काम नहीं चल सकता तो इसका अर्थ यह हुआ कि भोले लोगों को ठगने के लिए झूठ बोले विना काम नहीं चल सकता।

लोग समझ बैठे हैं कि हम झूठ बोलकर चाहे जिस तरह ठगें। हमे कौन देखता है ? पर शास्त्रकार कहते है—दूसरा कोई देखे या न देखे, पर तुम्हारा खुद का आत्मा और परमात्मा तो देखता है। अगर तुम परमात्मा को और अपने आत्मा को प्रसन्न करना चाहते हो तो जैसा कहते हो वैसा ही आचरण करके दिखलाना चाहिए। कहना कुछ और करना कुछ, इस पद्धति को अंगीकार करने मे तुम्हारा आत्मा संतुष्ट नही होता और परमात्मा भी प्रसन्न नहीं होता। कथनी और करनी में भिन्नता रखने से जीवन का व्यवहार ठीक तरह नही चल सकता। किसी ने कहा है–'यह करना चाहिए–'यह नहीं करना चाहिए' ऐसा दूसरो से तो कहा जाता है, परन्तु अपने कहने के अनुसार तू आप ही नहीं करता,

यह कहाँ तक उचित कहा जा सकता है ! कहना कुछ, और करना कुछ, यह भेदनीति सर्वथा अनुचित है।

जब गृहस्थों के लिए भी यह भेदनीति अनुचित गिनी जाती है तो साधुओं के लिए वह अनुचित और वर्ज्य हो, यह स्वाभाविक ही है। ऐसा होने पर भी कितनेक साधु भी बोलने में और करने मे भिन्नता रखते है। परन्तु इस प्रकार के अनुचित व्यवहार से परमात्मा प्रसन्न नहीं हो सकता। परमात्मा को प्रसन्न करने के लिए उच्चार को आचार मे लाने की अत्यन्त आवश्यकता रहती है।



बावनवाँ बोल।

योगसत्य



करण-सत्य अर्थात् सत्य प्रवृत्ति से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह पहले बतलाया जा चुका है। अब सत्य योग अर्थात् मन, वचन और काय के सत्य व्यापार से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय मे गौतम स्वामी, भगवान महावीर से पूछते है–

मूल पाठ

प्रश्न–जोगसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर–जोगसच्चेणं जोगे विसोहेइ ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न–भगवन ! योग सत्य से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर–योग-सत्य से योगों की विशुद्धि होती है।

व्याख्यान

मन, वचन और काय का व्यापार योग कहलाता है। मन, वचन और काय का व्यापार पन्द्रह प्रकार का है। मूल मे योग के

तीन भेद है—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। इनके पन्द्रह भेद है—मनयोग के चार भेद, वचनयोग के चार भेद और काययोग के सात भेद है। वचन और काय के साथ मन रहता है किन्तु कभी मन सत्य में प्रवृत्त होता है, कभी असत्य मे प्रवृत्त होता है। असत्य मे मन प्रवृत्त तो होता है मगर योग को सत्य मन मे ही प्रवृत्त करना चाहिये। सत्य मन मे योग को प्रवृत्त करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह बतलाने के लिये ही गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है। भगवान् ने उत्तर दिया है कि सत्य योग से योग की विशुद्धि होती है। मन में सत्य योग को प्रवृत्त करना ही योगसत्य है और योग सत्य से योग की विशुद्धि होती है।

योग का अर्थ जोड़ना भी है। मन, वचन और काय को किसी के साथ जोड़ना भी योग कहलाता है। मन, वचन और काय को जिसके साथ जोड़ा जाता है उसी को योग कहते है। पानी मे कोई वस्तु डाली जाय तो वह उस वस्तु का रंग अपना लेता है, इसी प्रकार अगर योग को सत्य मे प्रवृत्त किया जाय तो वह सत्य योग कहलायगा और यदि असत्य में प्रवृत्त किया जाय तो असत्य-योग कहा जायगा। इसी तरह अगर सत्य असत्य दोनों मे योग मिश्रित किया जाय तो मिश्रयोग कहलाएगा।

तात्पर्य यह है कि योग को सत्य मे प्रवृत्त करना चाहिये। अब प्रश्न यह है कि सत्य किसे कहना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर देना कुछ कठिन है। सत्य की पूर्ण व्याख्या तो वही महापुरुष कर सकते हैं जिन्होंने अपने जीवन मे सत्य को तानेवाने की तरह बुन लिया हो। जिन महापुरुषों ने सत्य को सांगोपांग सम्पूर्ण रूप से जीवन मे उतार लिया है, उनमे और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं

रहता। क्योंकि शास्त्र में कहा है कि सत्य ही भगवान् है अर्थात् भगवत्प्राप्ति का सच्चा मार्ग सत्य ही है।

सत्य की पूर्ण व्याख्या करना यद्यपि अपने लिए कठिन अवश्य है, फिर भी प्रत्येक मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा सर्वथा न सही, आंशिक रूप में भी अपने ध्येय तक पहुँच ही सकता है। इस कथन के अनुसार अपनी शक्ति के अनुसार यहाँ यह दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया जायगा कि सत्य क्या है?

साधारणतया सभी मनुष्य सत्य का स्वरूप समझने की अभिलाषा रखते है, परन्तु वही लोग सत्य को ठीक तरह समझ सकते हैं, जिन्हे सत्य हृदय से प्रिय है। सत्य का उपासक बनने की इच्छा रखने वाला सत्य के समक्ष तीन लोक की सम्पदा को ही नहीं वरन् अपने प्राण को भी तुच्छ समझता है। किन्तु जो लोग किसी सम्प्रदाय, धर्म या मत के पीछे मतवाले बन जाते है और स्वार्थवश होकर सत्यासत्य का विवेक भूल जाते हैं, वे सत्य का स्वरूप नहीं समझ सकते। वे सत्य को अपने जीवन में उतार भी नहीं सकते। जीवन को नीतिमय, प्रामाणिक धार्मिक तथा उन्नत बनाने के लिए सर्वप्रथम सत्यमय बनाना आवश्यक है। अतएव यहाँ सत्य के विषय में कुछ विशेष विचार करने की आवश्यकता है।

जो नित्य है, अविनाशी है और विकारों से रहित है, वह सत्य कहलाता है। अविनाशीपन को प्राप्त करने के लिए जो व्यवहार किया जाता है वह भी सत्य है। श्रीस्थानांगसूत्र के चौथे स्थान में सत्य की व्याख्या करते हुए कहा है-

चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते, तंजहा काउज्जुयया, भासुज्जुयया भावुज्जुयया अविसंवायणा जोगे।

अर्थात्– काय की सरलता, भाषा की सरलता और मन–वचन काय के योगों की सरलता का नाम सत्य है।

जिस विचार, वाणी और कार्यप्रणाली में त्रिकाल में भी फेरफार न हो, जिसे आत्मा निष्पक्षभाव से ग्रहण करे, हृदय में सम्पूर्ण रूप से जिसके स्थित हो जाने पर भय, ग्लानि अहंकार, मोह, दंभ, ईर्षा, द्वेष क्रोध, लोभ आदि कुत्सित भाव नष्ट हो जाएँ तथा जो भूतकाल में था वर्त्तमान में है और भविष्य में होगा अथवा जिसके द्वारा आत्मा को सच्ची शान्ति प्राप्त हो, उसे सत्य कहते हैं।

योगदर्शन के साधन-पाद के तीसरे सूत्र के भाष्य में वेदव्यासजी ने सत्य की व्याख्या करते हुए कहा है:–

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसी यथादृष्टं, यथानुमितं यथा-श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति।

परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्त्वा(या)यदि न वंचिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवंध्या वा भवेदिति।

भाव यह है कि मनोयोगपूर्वक वाणी की यथार्थता होना सत्य कहलाता है। अर्थात् जैसा देखा हो, समझा हो, वैसा ही दूसरों को दिखाया जाय, समझाया जाय तथा सुनाया जाय, यही सत्य है। किन्तु अगर वाक्चातुर्य से या असावधानी से उन्हीं शब्दों द्वारा दूसरों को भ्रमणा उत्पन्न हो तो उसे सत्य नहीं कहा जा सकता। संक्षेप में वास्तविक विचार, वाणी तथा व्यवहार सत्य कहलाता है। महाभारत में भी कहा है:–

अविकारितमं सत्यं सर्ववर्णेषु भारत !

अर्थात्—समस्त वर्णों में विकाररहित रहने वाले को सत्य कहते है।

सत्य की मूर्ति किसी पाषाण की बनी नहीं होती और न उसका कोई स्थान ही नियत होता है। इस देह में रहे हुए जीव की भाँति सत्य सर्वत्र व्याप्त है। कोई वस्तु या कोई स्थान ऐसा नहीं है जहाँ सत्य न हो। जिस वस्तु मे सत्य नही है वह वस्तु ही किसी काम की नहीं रहती। जैसे सूर्य मे सत्य वस्तु प्रकाश है। अगर सूर्य मे मे प्रकाश निकल जाय तो उसे कोई भी सूर्य नहीं कहेगा। दूध में सत्य वस्तु घी है। अगर दूध में से घी निकल जाय तो उसे वास्तव मे दूध नहीं कहा जा सकता। कहने का आशय यह है कि सत्य उस स्वाभाविक और वास्तविक वस्तु का नाम है, जिसके होने से किसी वस्तु, विचार, वाणी या कार्य वगैरह के नाम, रूप तथा गुणों में परिवर्त्तन न हो सके। सत्य अपरिवर्त्तनशील और स्वाभाविक है।

सत्य एक व्यापक और सार्वभौम सिद्धान्त है। ससार मे विभिन्न मत हैं और उनके सिद्धान्त अलग अलग हैं। कुछ मतों के वाह्य सिद्धान्तों मे तो इतनी अधिक भिन्नता होती है कि एक मतानुयायी दूसरे मत के अनुयायी से मिल भी नहीं सकता। यही नहीं वरन इन सिद्धान्तों को पकड़े रखकर वे प्रायः महायुद्ध मचा देते हैं। ऐसा होने पर भी अगर सब मतावलम्बी गम्भीरतापूर्वक निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो उन्हें मालूम होगा कि धर्म का पाया सत्य पर ही टिका है और वह सत्य सब का एक है। अगर इस सत्य का सच्चा स्वरूप समझा जाय तो जो लोग धर्म के नाम पर परस्पर द्वेष रखकर कलह करते हैं, वे भी कलह और द्वेष का त्याग करके भाई-भाई की तरह एक दूसरे के गले मिलेंगे और प्रेमपूर्वक भेटने के लिए तैयार हो जाएँगे।

प्रत्येक मनुष्य सत्य का पूजन कर सकता है। सत्य का पूजन करने में जाति या धर्म का कोई बन्धन नहीं है। यही नहीं वरन् जो कोई भी चाहे वह किसी भी जाति का या किसी भी धर्म का हो–सत्य का आचरण करता है। वह सच्चा धर्मात्मा बन जाता है। सत्य–पूजा की सामग्री के लिये साधारणतया एक कौड़ी भी नहीं खर्चनी पड़ती, परन्तु कभी २ सत्यपूजा के लिये इतनी अधिक आत्मत्याग करना पड़ता है कि संसार का कोई भी त्याग उसकी बराबरी नहीं कर सकता। पूछा जा सकता है कि सत्य की पूजा किस प्रकार करनी चाहिए? इस प्रश्न का निश्चित उत्तर यही दिया जा सकता है कि—'सत्यं चर।' अर्थात् सत्य का आचरण करो। मन, वचन और काय से सत्य का आचरण करना ही सत्य की सच्ची पूजा है।

सत्य का पूर्ण स्वरूप तो केवली भगवान् ही जानते हैं। हम लोग स्वयं अपूर्ण हैं। हम पूर्ण सत्य का वर्णन किस प्रकार कर सकते है? केवली भगवान् जितना जानते है उतना वे भी कह नहीं सकते, क्योंकि योग तो समयानुसार ही प्रवर्तित होता है। ऐसी स्थिति में वे जितना जानते हैं, उस सब का वर्णन किस प्रकार कर सकते है? हम लोग भी जितना देखते हैं उतना वर्णन नहीं कर सकते, तो फिर जो अखिल ससार को हाथ की रेखा की तरह देखते हैं, वे सब का कथन किस प्रकार कर सकते हैं? इस प्रकार पूर्ण सत्य तो अनिर्वचनीय–अकथनीय है। पूर्ण सत्य की परिसीमा पर पहुँचने से मन और वाणी भी उसी में समा जाते हैं। अतएव पूर्ण सत्य अनिवार्यनीय है। यहाँ जिस सत्य का कथन किया गया है वह तो व्यावहारिक सत्य है। जो वास्तविकता से विरुद्ध नहीं है और जिसके विषय में किसी प्रकार का कपट सेवन नहीं किया गया है,

यह व्यावहारिक सत्य है। इस सत्य के साथ योग का सम्बन्ध जोड़ना योग सत्य है। इस योग सत्य से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा है। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है:-योग सत्य मे योग की विशुद्धि होती है।

योगसत्य और योगअसत्य में क्या अन्तर है? यह बात एक व्यावहारिक उदाहरण देकर समझाता हूँ। मान लीजिये एक सेठ के पास कोई आदमी दस रु० उधार लेने आया। सेठ के पास तिजोरी मे रुपया है, मगर वह उस आदमी को देना नहीं चाहता और न यही चाहता है कि मांगने वाले को बुरा लगे। अतएव सेठ माँगने वाले से कहता है-'मै तुम्हे रुपया अवश्य देता, मगर अभी सिलक में रुपया न होने के कारण असमथ हूँ।' ऐसा कहने वाले सेठ ने अपना योग असत्य मे प्रवृत्त किया या नहीं? सेठ मिथ्या बोला, लेकिन उस आदमी को सेठ के कथन पर विश्वास नहीं हुआ। उसने मन मे यही सोचा होगा-यह सेठ झूठ बोलता है। यह कैसे माना जा सकता है कि उसके पास दस रुपया भी नहीं हैं! सेठ तो यह सोचता है कि मेरे तिजोरी में रुपया है या नहीं, यह कौन देखता है? मगर वह यह नहीं सोचता कि दूसरा कोई देखे या न देखे, मेरा मन तो जानता है कि तिजोरी मे रुपया है, फिर भी मैं मिथ्या बोला और रुपया न देने के लिए कपट किया। इस प्रकार योग को असत्य में प्रवृत्त करना योग असत्य है। अगर सेठ उस आदमी से यह कह देता कि मेरे पास रुपया तो है पर इस समय मै तुम्हें रुपया नहीं दे सकता। ऐसा कहने से सत्य की रक्षा होती। ऐसे सत्य में योग को प्रवृत्त करना योगसत्य है। इसी प्रकार सेठ यदि यह कहता

कि मै दस रुपया तो नही देता, पाँच दे सकता हूँ, तो यह भी सत्ययोग ही कहलाता। हाँ, सेठ ने यह कहा होता कि मेरे पास दस रुपया तो नही है, पाँच ही हैं। तुम पाँच रुपया ले जा सकते हो, यह कथन भी एक प्रकार से असत्य है; पर इसे मिश्र कहा जा सकता है। क्योंकि इस कथन में सत्य और असत्य का मिश्रण है। ऐसे मिश्र मे योग को प्रवृत्त करना मिश्रयोग कहलाता है।

चौथा व्यवहारयोग है। वस्तु न होने पर भी विकल्प से वस्तु मानना अथवा एक वस्तु मे दूसरी वस्तु का आरोप करके कथन करना विकल्प कहलाता है। जैसे—खाट शोर करती है। वास्तव में खाट शोर नही करती वरन् खाट पर बैठे आदमी शोर मचाते हैं, फिर भी व्यवहार मे ऐसा कहा जाता है कि खाट शोर मचाता है। कोई कहता है—गाँव भाग गया। यहाँ यह कथन किया गया है कि गाँव भागता है, परन्तु गाँव मे बसने वाले लोग भागते है—गाँव नहीं। फिर भी व्यवहार मे यही कहा जाता है कि सारा गाँव भाग गया। वस्तु मे सत्–असत् का निर्णय न करके, व्यवहार मे जैसा कहा जाता है, वैसा ही कपटरहित मन से कहना व्यवहार है। ऐसे व्यवहार में योग को प्रवृत्त करना व्यवहारयोग कहलाता है।

वचनयोग और काययोग के भी इसी प्रकार जुदा जुदा भेद है। सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार, इन चारों मे से जिस योग को जिसके साथ जोड़ा जाएगा वह योग वैसा ही कहलाएगा। भगवान् ने सत्य मे योग जोडने का फल यह बतलाया है कि योगसत्य से योग की विशुद्धि होती है अर्थात् आत्मा क्लेश कर्म के विपाक से रहित होता है।

जैसे झाड़ू से घर का कचरा साफ किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा में मन, वचन तथा काय की असत्यप्रवृत्ति रूपी जो कचरा भरा हुआ है, उसे योगसत्य रूपी झाड़ू से साफ किया जाता है। किसी विशिष्ट व्यक्ति को घर आने का आमन्त्रण तभी दिया जाता है जब अपना घर पहले से ही साफ कर लिया हो। घर साफ-सुथरा न हो तो महान् पुरुष को घर पर आने का निमन्त्रण नहीं दिया जाता। इसी प्रकार अगर अपने आत्ममंदिर में परमात्म-देव को पधराना हो तो हमें आत्म-मन्दिर में से असत्य योग की प्रवृत्ति रूपी कचरे को बाहर निकाल देना चाहिए। ऐसा करना आवश्यक है।

कितने ही लोग कहा करते हैं—हमारा मन सामायिक में नहीं लगता। पर जब तक मन असत्य योग में प्रवृत्त हो रहा है तब तक वह सामायिक में कैसे लगेगा? सामायिक में मन एकाग्र करना हो तो मन को सत्ययोग में प्रवृत्त करना चाहिए। जब मन सत्ययोग में लग जायगा तो मन सामायिक में स्थिर हुए बिना नहीं रहेगा।

अगर तुम्हारे मन, वचन और काय का व्यापार सत्ययोग में प्रवृत्त होगा तो तुम्हारे योग की अवश्य विशुद्धि होगी और जब योग की विशुद्धि होगी तब तुम्हें किस प्रकार का संकट नहीं सहन करना पड़ेगा और न दूसरे के शरण में ही जाना पड़ेगा। जो लोग योग को सत्य में प्रवृत्त करते हैं, उनका संकट टल जाता है।

तिरेपनवाँ बोल।

मनोगुप्ति

ठीक तरह परमात्मा को पहचान कर विशुद्ध भाव से वन्दन-नमस्कार करके उसे सदा सहायक बनाने में अनेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती है। इन विघ्नबाधाओं को दूर करने के लिए तथा उनसे बचने के लिए भी साधुत्व अंगीकार किया जाता है। यद्यपि साधुजन विघ्न-बाधाओ को जीतने के लिए ही सांसारिक वस्तुओं का त्याग करके संयम स्वीकार करते हैं, फिर भी मन, वचन और काय कभी-कभी साधुता की मर्यादा से बाहर निकल जाते है। इन्हे मर्यादा मे ही रखने के लिए भगवान् ने मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति का विधान किया है। मन की गुप्ति से अर्थात् मन को काबू मे रखने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह जानने के लिए गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

मूल पाठ

प्रश्न—मणगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—मणगुत्तयाए जीवे एगग्गं जणयइ, एगग्गचित्ते णं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भंते ! मनोगुप्ति से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—मनोगुप्ति (मन के संयम) से जीवात्मा में एकाग्रता उत्पन्न होती है और एकाग्र चित्त वाला जीवात्मा संयम का आराधक बनता है।

व्याख्यान

यह प्रश्न पहले योगसत्य के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर करने मे आया है। योगसत्य तभी रक्खा जा सकता है जब मन, वचन और काय की गुप्ति अर्थात् रक्षा की जाती है। इसलिए योगसत्य के अनन्तर तीन गुप्तियों के विषय में प्रश्न किया गया है।

मानव-शरीर में मन की प्रधानता है। अगर मन की गुप्ति अर्थात् रक्षा की जाय तो वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति भी सरलतापूर्वक रक्खी जा सकती है। मन, मानव-शरीर का प्रधान अंग होने के कारण उसकी रक्षा करना आवश्यक है। मन बहुत चंचल होता है, अतएव मन की चंचलता को रोकने के लिए शास्त्रों में तथा ग्रंथों मे खूब ऊहापोह किया गया है। मन की चंचलता के विषय में गीता में भी कहा है:—

> चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमादि बलवद् दृढम् ।
> तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम् ॥

अर्थात्—हे कृष्ण ! मन बहुत चंचल है। वह प्रमथन स्वभाव वाला है, दृढ़ है और बलवान् है। उसे वश में करना मुझे तो वायु को वश में करने के समान अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है।

इस प्रकार मन की चंचलता दूर करने के संबंध में अर्जुन

को भी शका हुई थी। दूसरे भक्त भी कहते हैं कि—हे प्रभो ! मेरा मेरा मन ऐसा है कि जिन कामों के करने से हानि सहनी पड़ती है, उन्हीं कामों में बार-बार प्रवृत्त होता है। ऐसा मन किस प्रकार वश में किया जा सकता है ?

इस तरह मन को वश में करना कठिन माना जाता है। परन्तु ज्ञानियों का कथन है कि यह कार्य जितना कठिन समझा जाता है, उतना कठिन नहीं है। यह ठीक है कि मन चंचल है, मगर ऐसी बात नहीं है कि वह वश में हो ही न सके। यदि मन वश में किया ही न जा सकता हो तो शास्त्रकार ऐसा करने का उपदेश ही क्यों देते ? जो कार्य वास्तव में अशक्य है उसे करने का उपदेश कौन देता है ? तिलों से तेल निकालने का उपदेश देना तो स्वाभाविक और उचित है किन्तु बालू में से तेल निकालने का उपदेश कोई नहीं देता। क्योंकि ऐसा होना अशक्य है। मन वश में तो किया जा सकता है परन्तु उसके लिये सक्रिय प्रयत्न करने की आवश्यकता है। इसीलिये यह उपदेश दिया जाता है कि मन को वश में करने का प्रयत्न करो, पुरुषार्थ करो। जिन प्रयत्नों द्वारा मन वश में किया जा सकता है उन प्रयत्नो द्वारा उसे वश में करके अनेक पुरुषों ने मुक्ति प्राप्त की है, करते हैं और करेंगे।

मन, वचन और काय को वश में करने के लिए ही शास्त्रकारों ने तीन गुप्तियों का विधान किया है। तीन गुप्तियाँ और पाँच समितियाँ तो साधुता का प्राण हैं। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो यह आठो प्रवचनमाता हैं।

गुप्ति का अर्थ रक्षा करना होता है। मन वचन और काय को वश में रखना, उनकी रक्षा करना गुप्ति है। मन, वचन और

काय को वश में रखने का अर्थ उन्हे नष्ट कर देना नहीं है। इसका अर्थ यह है कि जैसे घोड़े को लगाम आदि द्वारा वश में रक्खा जाता है, उसी प्रकार मन, वचन, काय को वश मे रखना गुप्ति है।

जैसे सीखा हुआ घोड़ा अपने सवार को निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा देने मे समर्थ होता है, उसी प्रकार मन, वचन तथा काय आत्मसिद्धि प्राप्त करने में अगर सहायक बन जाएँ तो कहना चाहिए कि उनकी गुप्ति हुई है। निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच कर सवार घोड़े से उतर पड़ता है, उसी प्रकार आत्मसिद्धि होने के बाद इन्द्रियो की सहायता लेने का भी त्याग कर दिया जाता है। अलवत्ता जब तक आत्मा का उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ है तब तक मन, वचन, काय से विवेकपूर्वक काम लेना पड़ता है। मन, वचन तथा काय से विवेकपूर्वक काम लेना ही गुप्ति है। मन, वचन, काय को नष्ट कर देना गुप्ति नहीं है। यह तो आत्महत्या है। अतएव मन, वचन तथा काय को निवृत्ति मे प्रवृत्त करना ही गुप्ति है। किसी भी वस्तु से निवृत्त होने के लिए प्रवृत्ति करना आवश्यक है। प्रवृत्ति के बिना निवृत्ति नहीं हो सकती और निवृत्ति के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतएव मन, वचन और काय को निवृत्त करने के लिए सर्वप्रथम उन्हे आर्त्तध्यान से हटा कर धर्मध्यान में प्रवृत्त करना चाहिए। ऐसा न करके, अगर इन्द्रियों को एकान्त निवृत्तिमय बनाया जाय तो परिणाम सुन्दर नहीं आ सकता। इस कारण इन्द्रियो को सर्व प्रथम आर्त्तध्यान से बाहर करके धर्मध्यान में प्रवृत्त करना चाहिए।

प्रसंग के अनुसार यहाँ आर्त्तध्यान पर विचार करना आवश्यक है। दुःखपूर्ण ध्यान आर्त्तध्यान कहलाता है। शास्त्र मे भी कहा है:—

अट्टज्झाणे चउविहे चउपडियारे पण्णत्ते ।

अर्थात्—आर्त्तध्यान कैसा होता है और उसका स्वरूप क्या है, यह नीचे की कविता में स्पष्ट रूप से समझाया गया है:—

इष्ट वियोग विकलता भारी, अरु अनिष्ट संयोग दुखारी।
तन की व्याधि मन हि मन झूरे, अग्र सोच करि वछित पूरे।
ये आरत के चारों पाये, महा मोह--रस से लिपटाये ।

अर्थात्—किसी इष्ट वस्तु का वियोग होने पर व्याकुल होना पहला आर्त्तध्यान है। शास्त्र कहता है कि जिस वस्तु के वियोग से तू दुखी हो रहा है, वह वस्तु अगर वास्तव में तेरी होती तो उसका वियोग ही क्यों होता ? जो वस्तु नष्ट हो गई है वह वास्तव में तेरी नहीं है। फिर भी उस वस्तु के वियोग से तू दुःख मानता है, इसका प्रधान कारण तेरा मिथ्या मोह है।

अनिष्ट वस्तु के संयोग के कारण विकल होना दूसरा आर्त्तध्यान है। व्याधि उत्पन्न होने से दुखी होना तीसरा आर्त्तध्यान है और भविष्य सम्बन्धी चिन्ता करके दुखी होना चौथा आर्त्तध्यान है। इस चौथे आर्त्तध्यान का रूप बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं:—

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,
इमं च मे किच्चमिमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं,
हरा हरंति त्ति कहं पमाए ?

—उत्त० १४, १५

अर्थात्—यह मेरा है और यह मेरा नहीं है, यह मुझे करना है और यह नहीं करना है, इस प्रकार बड़बड़ाते हुए प्राणी को रात और दिन रूपी चोर (आयु को) चुरा रहे है। ऐसी दशा में प्रमाद क्यों करना चाहिए ?

इस प्रकार भविष्य के विचार से जो दुःख उत्पन्न होता है, वह आर्त्तध्यान का चौथा भेद है।

किसी भी साधारण वस्तु के कारण किस प्रकार प्रपंच खड़ा हो जाता है, इस विषय में एक घटना सुनी है। एक आदमी नीलाम मे पलंग खरीद लाया। वह पलंग कारीगरी का अद्भुत नमूना था। अतएव उस पलंग के कारण उस आदमी के घर साठ हजार का दूसरा सामान खरीदा गया। यह बात अतिशयोक्तिपूर्ण जान पड़ती है किन्तु घर मे एक चीज़ बसाने पर कितना प्रपच और कितना खर्च करना पड़ता है, इस घटना से यह बात समझी जा सकती है। तुम एक सुन्दर बटनो का सेट खरीदोगे तो बटनो के अनुकूल सुन्दर सिलाई वाले धुले कपड़े पहनने की भी आवश्यकता प्रतीत होगी। जब तुम सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित होओगे तो बढ़िया छतरी और सुन्दर बूट आदि की भी आवश्यकता रहेगी। अब विचार करो कि एक सामान्य बटन के कारण कितना खर्च करना पड़ा ? इसी प्रकार तुम लोग बारीक वस्त्र पहन कर सोचते हो कि हमें कपड़ा सस्ता मिला, परन्तु इस बारीक वस्त्र के पीछे कितना अधिक खर्च करना पड़ता है और परिणामस्वरूप किस प्रकार आर्त्तध्यान मे पड़ना पड़ता है, इस बात का विचार करोगे तो तुम्हे पता चलेगा कि जीवन में संयम और सादगी रखने से ही आर्त्तध्यान से बचाव हो सकता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि मोह के कारण यह चार प्रकार का आर्त्तध्यान किया जाता है। इस प्रकार के आर्त्तध्यान को धर्मध्यान या शुक्लध्यान के द्वारा ही जीता जा सकता है। शुक्लध्यान आत्मविकास की उच्च श्रेणी है। अतएव अगर धर्मध्यान किया जाय तो आर्त्तध्यान से बचाव हो सकता है और फिर धीरे-धीरे शुक्लध्यान की स्थिति तक पहुँचा जा सकता है।

धर्मध्यान किसे कहते है और धर्मध्यान से आर्त्तध्यान किस प्रकार दूर हो सकता है, इस विषय में कहा है :—

केवलिभाषित वाणी माने, कर्मनाश का उद्यम ठाने।
पूरब कर्म उदय पहचाने, पुरुषाकार लोकथिति जाने।
धर्मध्यान के चारों पाये, जे समझे ते मारग आये।

अगर इष्टवियोग के कारण आर्त्तध्यान हो तो केवलिभाषित वाणी पर विश्वास करके धर्मध्यान मे प्रवृत्ति करनी चाहिये और यदि अनिष्टसंयोग के कारण आर्त्तध्यान हो तो कर्मों को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। शास्त्रकार का कथन है कि आर्त्तध्यान के प्रसग पर धर्मध्यान करने से कठिन बंध भी शिथिल पड़ जाता है। शरीर मे व्याधि हो तो पूर्व कर्मो का स्मरण करके सोचना चाहिए कि—मैंने ही यह व्याधि उत्पन्न की है, तो मुझे दुःख क्यों मनाना चाहिए? जब किसी की वस्तु मैंने उधार ली है तो मुझे वापिस सौंपनी ही चाहिए।

गांधीजी जब अफ्रीका मे थे तो उन्हे ईसाई बनाने के लिए एक बाई ने बहुत प्रयत्न किया था। जब उसके सब प्रयत्न निष्फल हुए तब उसने गांधीजी से कहा—अपन पापी तो हैं ही और अपन

से पाप होते ही रहते हैं। अगर हम इन पापों का फल भोगने बैठें तो कहीं अन्त ही नहीं आएगा। अतएव हमें ईसा की शरण में जाना चाहिए। जो ईसा की शरण मे चले जाते हैं उनके पाप का फल ईसा भोग लेते हैं और शरणागत लोग पाप के फल से बच जाते है। इस कथन के उत्तर में गांधीजी ने कहा—'यह कैसा धर्म है! पाप से तो डरना नहीं और पाप के फल से डर कर ईसा की शरण में जाना! यह सर्वथा अनुचित है। जब हमने पाप किया है तो उसका फल भी हमें ही भोगना चाहिए।'

इसी प्रकार जब रोग आवे तो सोचना चाहिए कि मेरे किये कर्म मुझे भोगना ही चाहिए। इसमे मुझे दुःख का अनुभव नहीं करना चाहिए। इस प्रकार विचार करके वेदना के समय दुःख न मानने से अर्थात् आर्त्तध्यान न करने से और उसके बदले धर्मध्यान करने से कर्मबंध भी ढीला पड़ जाता है।

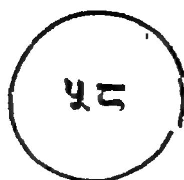
इस लोक को पुरुषाकार मानकर लोकस्थिति के विषय में विचार करना चाहिए, यह धर्मध्यान का चौथा प्रकार है। स्वर्ग और नरक इस शरीर मे हैं। शरीर में नीचे नरक, मध्यम मे मनुष्य-लोक और ऊपर स्वर्ग है। नवग्रैवेयक के विषय मे कहा जाता है कि अपनी गर्दन ही नवग्रैवेयक है। इस प्रकार अपने शरीर को चौदह राजू लोक का नक्शा मानकर लोकस्थिति के विषय मे विचार किया जाय तो मन धर्मध्यान में प्रवृत्त होता है।

कहने का आशय यह है कि धर्मध्यान की सहायता से आर्त्तध्यान से बचाव हो सकता है और मन को एकाग्र किया जा सकता है। धर्मध्यान करना और आर्त्तध्यान से बचते रहना भी मनोगुप्ति का साधन है। मनोगुप्ति के विषय मे कहा भी है :—

विमुक्तकल्पनाजालं समत्वेषु प्रतिष्ठितम् ।
आत्मारामं मनस्तज्ज्ञैर्मनोगुप्तिः सदाहृता ॥

अर्थात्—कल्पना के जाल से बाहर निकलकर समभाव से स्थिर होना, आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान में से निकलकर धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मे प्रवृत्त होना और मन को आत्म-विचार में ही तन्मय कर देना मनोगुप्ति है। मन जब आत्मा में ही रमण करता है, अन्यत्र नहीं जाता, तभी पूर्ण मनोगुप्ति होती है।

साधारणतया तो समिति और गुप्ति का मार्ग साधुओं के लिए है, परन्तु इस मार्ग को समझकर तुम लोग भी अगर मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करोगे तो तुम्हारे आत्मा का भी बहुत लाभ होगा। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से निवृत्त होना ही गुप्ति है। इस प्रकार की गुप्ति का पालन गृहस्थ भी कर सकता है। मनोगुप्ति का पालन करने से दुःख भी सुख में परिणत हो सकता है।



चौपनवाँ बोल ।



वचनगुप्ति

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का आपस मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव यहाँ सामान्य रूप से गुप्ति के विषय मे विचार किया गया है। मानव शरीर में मन की प्रधानता होने से सर्वप्रथम मन की गुप्ति करना आवश्यक है। जब तक मनोगुप्ति नहीं की जाती तब तक वचनगुप्ति और कायगुप्ति नहीं हो सकती।

वचन की गुप्ति से अर्थात् वाणी पर काबू रखने से जीव को क्या लाभ होता है, यह जानने के लिए गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा :—

मूल पाठ

प्रश्न—वयगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—वयगुत्तयाए निव्वियारत्तं जणयइ, निव्वियारे णं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते यावि भवइ ॥५४॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! वचनगुप्ति से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—हे गौतम ! वचनगुप्ति (वाणी के संयम) से जीवात्मा विकाररहित होता है और निर्विकार जीव आध्यात्मिक योग के साधनो से युक्त होकर विचरता है ।

व्याख्यान

प्रश्न किया जा सकता है कि अगर मन पर नियन्त्रण कर लिया जाय तो फिर वाणी के नियन्त्रण की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर तो कोई योगी महात्मा ही दे सकते है, फिर भी मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर देने का प्रयत्न करता हूँ :—

तालाब में जैसे पानी की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार पानी की रक्षा करने के लिए पाल बांधने की भी आवश्यकता होती है। पानी के अभाव में पाल बाँधने की आवश्यकता नहीं है और पाल बाँधे विना पानी टिक नहीं सकता। तालाब में पाल बँधी हो तो पानी भी टिक सकता है और पानी को टिकाए रखने के लिए पाल बाँधना आवश्यक होता है। इसी प्रकार मनोगुप्ति के साथ वचनगुप्ति का होना भी आवश्यक है।

वचनगुप्ति का साधारण अर्थ वाणी पर काबू रखना है। वचन पर एकदम काबू पा लेना कठिन है। अतएव सर्वप्रथम अप्रशस्त वचन बोलना कम करके प्रशस्त वचन बोलने का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करने से वचनगुप्ति का सम्पूर्ण रूप से पालन

हो सकेगा। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में वचनगुप्ति के चार भेद बतलाए गए हैं। उसमें कहा है :—

सच्चा तहेव मोसा य सच्चामोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा य वयगुत्ती चउव्विहा ॥

श्री उ० २४ अ०

अर्थात्—वचनगुप्ति चार प्रकार की है—(१) सत्यवचन-गुप्ति (२) असत्यवचनगुप्ति (३) सत्य असत्य वचनगुप्ति और (४) व्यवहारवचनगुप्ति। जो व्यक्ति यह चार प्रकार की वचनगुप्ति रखता है, उसके लिए भगवान् ने कहा है कि वचनगुप्ति रखने के कारण वह व्यक्ति निर्विकार दशा प्राप्त करता है।

आत्मा का निज स्वरूप में रमण करना निर्विकारीपन है और परवस्तु में रमण करना विकारीपन है। पर-वस्तु चाहे जैसी हो, उसमें रमण करना आत्मा का विकार ही है। पानी में चाहे शक्कर डाली जाय, चाहे नमक डाला जाय, पर-वस्तु के संयोग के कारण पानी विकृत ही माना जाता है। पानी की प्रकृति तो तभी कहलाएगी जब वह अपने स्वरूप मे स्थित होगा। इसी प्रकार आत्मा मे निर्विकारपन तभी आ सकता है जब आत्मा वचनगुप्ति का पूरा पूरा पालन करे। बोलने के कारण आत्मा को अपने प्रकृत स्वभाव से च्युत होना ही पड़ता है। लेकिन जब आत्मा मौन अवस्था में रह ही न सकता हो तो ऐसी स्थिति में असत्य वचन न बोलकर सत्य वचन बोलना ही आत्मा के लिए श्रेयस्कर है। अर्थात् अशुभ वचन न बोलकर शुभ वचन बोलना ही लाभकारक है। यद्यपि सत्य वचन बोलना शुभ है परन्तु आत्मा की निज दशा की दृष्टि से तो सत्य वचन भी उसी प्रकार विकृतिजनक है जैसे

शक्कर पानी में विकृतिजनक है। फिर भी जैसे पानी में नमक, मिलाने की अपेक्षा शक्कर मिलाना शुभ माना जाता है, उसी प्रकार जब तक वचनगुप्ति का पूर्णरूप से पालन न किया जा सके तब तक असत्य, मिश्र और अशुभ मे प्रवृत्त न करते हुये शुभ में अर्थात् सत्य मे ही प्रवृत्त करना चाहिए। इस प्रकार सत्य वचन का व्यवहार करने से भी आत्मा में निर्विकार दशा उत्पन्न हो सकती है। विकार-रहित पानी किस प्रकार गुणकारी होता है, यह बात डाक्टर लोग भलीभाँति जानते हैं। इसी प्रकार आत्मा जब निर्विकार होता है तो उसमे क्या विशेषता आ जाती है, यह बतलाने के लिए भगवान् ने कहा है कि जब आत्मा निर्विकारी बनता है तभी वह निज-स्वरूप मे रमण करता है।

भगवान् के इस कथन से एक सूचना यह भी मिलती है कि वचनगुप्ति का पालन करके आत्मा को निज-स्वरूप में रमण करना चाहिए। जब तक आत्म स्वरूपरमणता प्रकट नहीं होती तब तक वचनगुप्ति का पालन सार्थक नहीं होता। साधारण रूप से तो बगुला मछलियों को पकड़ने के लिए चुपचाप रहता है, परन्तु उसकी वचनगुप्ति के पीछे स्वार्थवृत्ति अथवा पर–वस्तु को अपनाने की वृत्ति होने से वह वचनगुप्ति निरर्थक हो जाती है। अतएव वचनगुप्ति अगर आत्म-स्वरूप-रमण में सहायक न हो तो वह सार्थक नहीं हो सकती। वचनगुप्ति के विना निर्विकारपन नहीं आ सकता और निर्विकारपन प्रकट हुए विना निज-स्वरूप नहीं साधा जा सकता। अतएव वचनगुप्ति आवश्यक है। परन्तु वचनगुप्ति निज स्वरूप साधने के लिए ही होनी चाहिए, स्वार्थपूर्ति के लिए नहीं।

वचनगुप्ति का जितना अधिक पालन हो सके उतना ही श्रेयस्कर है। आज घर-घर जो क्लेश-कलह होता देखा जाता है,

उसका प्रधान कारण वचन पर अंकुश न होना भी है। वचन पर अंकुश रक्खा जाय तो बहुतसा कलह शान्त हो सकता है। क्षत्रियत्व न रहने के कारण लोग तलवार चलाना तो भूल गये हैं, उसके बदले वचन-बाण चलाना सीख गये हैं। मगर वचन-बाण तलवार से भी ज्यादा तीखे होते हैं, अतएव अधिक आघात पहुँचाते है। कोणिक की रानी पद्मा ने कठोर वचनो द्वारा कोणिक को इतना उत्तेजित कर दिया था कि महायुद्ध मच गया। इस महायुद्ध मे एक करोड, अस्सी लाख मनुष्य स्वाहा हो गए। लोग तलवार को तो सँभाल रखते है परन्तु जीभ को वश मे नहीं रखते। इसी कारण क्लेश-कलह होता है। जीभ कैसी है और किस लिए तथा किस प्रकार उसकी सँभाल रखनी चाहिए, इस सम्बन्ध मे एक लोककवि ने कहा है :—

जीभ जोग अरु भोग जीभ ही रोग बढ़ावे,
जिभ्या से यश होय, जीभ से आदर पावे।
जीभ नरक ले जाय जीभ वैकुँठ पठावे,
जीभ करे फजीत जीभ से जूता खावे।
अदल तराजू जीभ है, गुण-अवगुण दोउ तोलिये,
'वैताल' कहे विक्रम सुनो जीभ सम्हाल कर बोलिये॥

इस प्रकार जीभ की नोक पर गुण और अवगुण दोनों बसे हैं। अगर हम गुण ग्रहण करना चाहते हैं तो हमें जिह्वा से सत्य, प्रिय और पथ्य बोलना चाहिए। हमे एक भी ऐसा कटुक वचन नहीं बोलना चाहिए, जिससे दूसरे को दुःख हो और भविष्य मे अपने को पश्चात्ताप करना पड़े। अगर जीभ का सदुपयोग

करना न आता हो तो मौन साध लेना ही श्रेयस्कर है। कहा भी है- 'मौनं सर्वार्थसाधकम्।' अर्थात् मौन सभी अर्थों को सिद्ध करने वाला है। परन्तु जब बोलना ही हो तो आगे-पीछे का विचार करके सत्य, प्रिय और पथ्य ही बोलना चाहिए। योगशास्त्र में कहा है कि 'जो सत्य वचन बोलता है उसके वचन में सिद्धि बसती है' अर्थात् सत्यभाषी को प्रत्येक कार्य में सिद्धि मिलती है। श्री प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा है कि सत्य के प्रभाव से आग भी शीतल हो जाती है और तलवार भी फूल की माला बन जाती है। इस प्रकार सत्य वचन में सिद्धि का निवास है। जिस जीभ द्वारा सिद्धि देने वाले सत्य वचन बोले जा सकते हैं, उस जीभ को खराब कामों में प्रवृत्त करना सर्वथा अनुचित है। जो व्यक्ति सत्य वचन बोलता है वह कभी वचनगुप्ति का पूर्णतः पालन करने के लिए निर्विकार बन सकता है और अध्यात्मयोग साध सकता है। अगर कोई व्यक्ति मुख से अविवेकपूर्ण वचन निकालता रहे और अध्यात्मयोग साधने की बात करे तो वह बकवादी व्यक्ति अध्यात्मयोग की साधना किस प्रकार कर सकता है? अध्यात्मयोग साधने के लिए वचन पर काबू रखने का प्रयत्न करो। ऐसे अनेक प्रसङ्ग आ जाते हैं जब गृहस्थ लोग वचन पर काबू नहीं रख सकते; परन्तु उस पर काबू रखने का अधिक से अधिक प्रयत्न करना चाहिए।

कल्पना करो, तुम्हे एक ऐसा मन्त्र बता दिया जाय कि जिससे तुम्हारे सभी काम सिद्ध होते हो, तो ऐसा मन्त्र सीखने के लिए कौन उत्सुक नहीं होगा? ऐसे लोग बहुत ही कम निकलेंगे जो ऐसा मन्त्र सीखने के लिए तैयार न हो जाएँ। तो अब तुम्हे बतलाया जाता है कि तुम वचन पर काबू रक्खो और वचन को अशुभ से निकालकर सत्यरूप शुभ में स्थिर करो तो तुम्हे अवश्य सिद्धि प्राप्त

होगी। किन्तु यह करना तुम्हे कठिन मालूम होता है। वास्तव में वचनसिद्धि प्राप्त करने के लिए वचनगुप्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। वचनगुप्ति का पालन करने से वचनसिद्धि अवश्य प्राप्त होगी। अगर तुम वचन-सत्य को स्थिर करोगे तो समस्त सिद्धियाँ तुम्हें खोजती आएँगी। वचनगुप्ति का पालन साधु और श्रावक दोनों के लिए उपयोगी और कल्याणकारी है। दूसरा कोई वचनगुप्ति का पालन करे या न करे, तुम अपना कर्त्तव्य समझकर वचनगुप्ति का पालन करो। इसी में तुम्हारा कल्याण है। अपने कर्त्तव्य में दृढ रहने वाला व्यक्ति आत्मकल्याण अवश्य करता है। संकट के समय भी कर्त्तव्य का पालन करना ही कल्याण का मार्ग है।

५६

पचपनवाँ बोल

कायगुप्ति

शास्त्र का कथन है कि पाँच समिति और तीन गुप्ति में समस्त द्वादशांग वाणी का समावेश हो जाता है। इसी कारण उन्हें प्रवचनमाता भी कहते हैं। प्रवचनमाता का पूर्णरूप से गुणानुवाद करना सरल काम नहीं है। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति अपनी माता का गुणानुवाद तथा भक्तिप्रदर्शन अपनी शक्ति के अनुसार करता ही है। इसी प्रकार मैं प्रवचनमाता का गुणानुवाद करने के लिए उद्यत हुआ हूँ।

गौतम स्वामी ने मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का पालन करने से जीव को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न किया है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने मन-गुप्ति और वचनगुप्ति से होने वाले लाभ के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है, उसका विवेचन पहले किया गया है। अब यह विचार करना है कि काय-गुप्ति से जीव को क्या लाभ होता है?

मूल पाठ

प्रश्न—कायगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—कायगुत्तयाए संवरं जणयइ, संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ ।

शब्दार्थ

प्रश्न—कायगुप्ति से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—कायगुप्ति (कायिक संयम) से संवर (पापों का निरोध) होता है और फिर संवर द्वारा जीवात्मा पाप के प्रवाह का निरोध कर सकता है ।

व्याख्यान

कायगुप्ति के पालन से होने वाले लाभ का विचार करने से पहले यह विचार करना आवश्यक है कि मन और वचन के साथ काया भी रहती है, तो फिर काय के विषय में अलग प्रश्न क्यों किया गया है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जैसे काया मन के साथ रहती है, उसी प्रकार मन से पृथक् भी है। किसी भी सम्पूर्ण शरीर का वर्णन किया जाय तो उस शरीर के सब अङ्ग उसमें आ जाते हैं, परन्तु जब शरीर के प्रत्येक अंग का भिन्न-भिन्न वर्णन किया जाता है तो प्रत्येक को अलग मानकर ही वर्णन करना पड़ता है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—हे गौतम ! कायगुप्ति से जीव को संवर की प्राप्ति होती है और संवर के कारण जीवात्मा आने वाले पापकर्मों का निरोध करने मे समर्थ होता है ।

साधारणतया कायगुप्ति का अर्थ है—काय की रक्षा करना अर्थात् काय को निश्चल कर लेना या काय का ममत्व तज देना। परन्तु काय को अप्रशस्त में से हटाकर प्रशस्त में प्रवृत्त करना भी कायगुप्ति ही है। प्रशस्त और अप्रशस्त की व्याख्या मनःकल्पित नहीं होनी चाहिए वरन् शास्त्र में इनकी जो व्याख्या की गई है वही स्वीकार करना चाहिए। हरेक आदमी अपनी मनमानी व्याख्या करने लगेगा तो ऐसी दशा में प्रशस्त और अप्रशस्त के अनेक रूप हो जाएँगे। अतएव प्रशस्त और अप्रशस्त की शास्त्रसम्मत व्याख्या ही स्वीकार करना चाहिए।

शास्त्र कहते हैं—कायगुप्ति दो प्रकार की होती है। एक सामान्य और दूसरी विशेष। अप्रशस्त में से निकालकर प्रशस्त में काय को स्थिर करना सामान्य कायगुप्ति है और कायगुप्ति के विशेष नियमों का पालन करना विशेष कायगुप्ति है। कायगुप्ति का पालन करने वाले को शयन, आसन और वस्तुस्थापन आदि क्रियाएँ शास्त्रसम्मत रीति से ही करना चाहिए। साधु के शयन के विषय में शास्त्र में कहा है कि साधु को बिना कारण निद्रा नहीं लेना चाहिए। निद्राशील साधु कायगुप्ति का पालन नहीं कर सकता। अगर निद्रा लिए बिना काम चल ही न सकता हो तो गीतार्थ साधु को एक पहर और अगीतार्थ साधु को दो पहर से अधिक नींद नहीं लेना चाहिए। निद्रा लेने के इस विधान में भी अपवाद है। इस अपवाद का सेवन न किया जाय तो अच्छा ही है, परन्तु अपवाद सेवन के बिना काम न चल सकता हो तो शास्त्र-विधि के अनुसार ही निद्रा ली जा सकती है।

वस्तु को धरने-उठाने तथा मल मूत्र का त्याग करने आदि में भी शास्त्र-विहित नियमों का पालन करना चाहिए। इसी प्रकार

कायगुप्ति पालने वाले साधु को बैठने आदि मे भी कुचेष्टा नहीं करना चाहिए किन्तु शान्त तथा गम्भीर होकर बैठना चाहिए। साधु के बैठने तथा गमनागमन के तरीके से साधु की परीक्षा होती है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि श्रेणिक राजा ने अनाथी मुनि को शान्त तथा गम्भीर भाव से बैठा देखकर ही समझ लिया था कि वे मुनि हैं। कहने का भावार्थ इतना ही है कि साधु का उठना-बैठना वगैरह शास्त्रानुकूल ही होना चाहिए।

साधुओं के लिए शास्त्र में विशेषतः कायोत्सर्ग करने का विधान किया गया है। कायोत्सर्ग तो तुम श्रावक भी 'झाणेणं मोणेणं अप्पाणं वोसिरामि' आदि पाठ बोलकर करते हो। पर केवल पाठ बोल देने से कायोत्सर्ग नहीं होता। कायोत्सर्ग करना सरल नहीं है। कायोत्सर्ग अर्थात् काय का त्याग करना—काया पर तनिक भी ममता न रखना। चाहे जैसा उपसर्ग आवे, काया को डिगने न देना ही सच्चा कायोत्सर्ग है। उदाहरण के लिए—किसी प्रकार का अपराध न करने पर भी सोमल ब्राह्मण ने गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर धधकती हुई आग रख दी थी। फिर भी गज-सुकुमार मुनि तनिक भी विचलित न होते हुए कायोत्सर्ग में ही स्थिर रहे। आज जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसमें तो मच्छर के काटने पर भी स्थिर नहीं रहा जाता। कायोत्सर्ग करना कठिन अवश्य है परन्तु अभ्यास करने पर वह सरल भी है। आजकल के लोग कायोत्सर्ग करने में कितने सहनशील बने रहते हैं, इसके लिए एक सुनी हुई घटना कह सुनाता हूँ।

एक गरीब श्रावक था। उसने सोचा—मेरी नीयत साफ है, फिर भी मुझे कोई उधार नहीं देता। ऐसी दशा में काम चलाने के लिए कोई उपाय करना चाहिये। पड़ौस में रहने वाला सेठ धार्मिक

है। जब वह सामायिक में बैठे तो गले में पहना हुआ उनका कंठा क्यों न उतार लिया जाय ? ऐसा विचार कर वह श्रावक, सामायिक में बैठे हुए सेठजी के पास गया। बोला—सेठजी ! आपने सामायिक ली है। संसार की समस्त वस्तुओं से सामायिक श्रेष्ठ है। अतएव आप अपनी सामायिक में स्थिर रहें—विचलित न हो। इतना कहकर श्रावक ने सेठ के गले में से कंठा निकाल लिया। सेठ सामायिक में स्थिर ही बैठे रहे। वह न कुछ भी बोले और न उन्होंने अपना चित्त ही चञ्चल होने दिया।

सामायिक पालकर सेठ घर पहुँचा। मुनीम आदि ने पूछा-आज आपके गले में कँठा क्यों नजर नहीं आता ? सेठ ने सोचा—सच कह दूंगा तो लोग गरीब श्रावक को हैरान करेंगे और उसने कह दिया—पड़ गया होगा कहीं। तुम कंठा की इतनी ज्यादा चिन्ता क्यों करते हो ? इस विषय में किसी को कुछ भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। जब यह शरीर ही मेरा नहीं तो कठा मेरा कैसे हो सकता है !

कंठा ले जाने वाले श्रावक की नीयत साफ थी। जब उसका काम निकल गया तो वह श्रावक कंठा वापिस ले आया। सेठ ने कहा—कठा मेरा नहीं है। जब यह शरीर ही मेरा नहीं तो कंठा मेरा कैसे हो सकता है ? उस श्रावक ने कहा—कंठा तुम्हारा नहीं तो मेरा भी नहीं है। मैं इसे अपने पास कैसे रख सकता हूँ ? इतना कहकर श्रावक ने सेठ के सामने कंठा रख दिया और वह चलता बना।

कहने का भावार्थ यह है कि उपसर्ग का आघात लगने पर भी अगर काया विचलित न हो तो ही सच्चा कायोत्सर्ग कहा जा

सकता है। तुम्हें भी कायोत्सर्ग मे दृढ़ रहना चाहिए और मानना चाहिए कि हमारे प्रभु ने जब सदैव के लिए कायोत्सर्ग कर दिया है तो मै थोड़ी देर के लिए भी कायोत्सर्ग में स्थिर क्यो न रहूँ।

इस प्रकार कायोत्सर्ग करना भी कायगुप्ति है। कायोत्सर्ग मे काया की ममता तज देनी चाहिए। काया पर से थोड़ा-थोड़ा ममत्व भी उतारने का अभ्यास किया जायगा तो भी कल्याण होगा। जब एक बार किया हुआ नमस्कार भी कल्याणकारी होता है तो हमेशा किया जाने वाला ऐसा कायोत्सर्ग लाभकारी क्यों नहीं होगा ? मगर कायोत्सर्ग लाभकारी तभी हो सकता है जब काया की ममता छोड़कर कायोत्सर्ग किया जाय। जो व्यक्ति लक्ष्य चूक कर तीर चलाता है, उसका तीर वृथा जाता है। लक्ष्य साधकर चलाया गया तीर ही इष्ट कार्य-साधक होता है। अतएव कायोत्सर्ग करने का लक्ष्य सामने रखकर कायोत्सर्ग किया जायगा तो अवश्य कल्याण होगा।



छप्पनवां बोल ।

मनः समाधि

पिछले बोलो में मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के विषय में कहा जा चुका है। अब गुप्ति की रक्षा करने के लिए मन को सत्यमार्ग (समाधि) मे स्थापित करने की आवश्यकता है। अतएव मन को समाधि मे स्थापित करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय मे गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते है :—

मूलपाठ

प्रश्न—मणसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—मणसमाहारणयाए एगग्गं जणयइ, एगग्गं जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ, नाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ, मिच्छत्तं य निज्जरेइ ॥५६॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भंते ! मन को समाधि में स्थापित करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—मन को समाधि में स्थापित करने से एकाग्रता उत्पन्न होती है। एकाग्रता उत्पन्न करके जीव ज्ञान की पर्यायें उत्पन्न करता है। ज्ञान की पर्यायें उत्पन्न करके सम्यक्त्व की विशुद्धि करता है और मिथ्यात्व का नाश करता है।

व्याख्यान

मन का निरोध करने की बात करना जितना सरल है, निरोध करना उतना सरल नहीं है। जहाँ तक मन का निरोध नहीं किया जाता अर्थात् मन को समाधिस्थ नहीं किया जाता तब तक मन एकाग्र नहीं हो सकता। जब मन में एकाग्रता आ जाय तभी समझना चाहिए कि मन समाधिस्थ हो गया है अर्थात् मन का निरोध हो गया है। मन को बहिर्मुख न होने देना—अन्तर्मुख बनाना और आत्मसमाधि में संलग्न करना ही मन का समाधारण है। जब मन में ऐसी समाधि होती है तब मन एकाग्र बनता है और अज्ञान-शक्ति नष्ट होकर ज्ञान की पर्यायें (शक्तियाँ) उत्पन्न होती हैं। ज्ञान-शक्ति उत्पन्न होने पर सम्यक्त्व की विशुद्धि और मिथ्यात्व का नाश होता है।

संक्षेप में, मन की समाधि से एकाग्रता उत्पन्न होती है, एकाग्रता से ज्ञानशक्ति उत्पन्न होती है। ज्ञानशक्ति से मिथ्यात्व का नाश और सम्यक्त्व की विशुद्धि होती है।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने मन की समाधि का जो फल बतलाया है उसे दृष्टि में रखकर मन का निरोध करने का प्रयत्न करना चाहिए और इस बात की सँभाल रखनी चाहिए कि मन किसी खराब काम में प्रवृत्त न हो।

माता-पिता अपनी सन्तान को गहने पहनाते हैं तो इस बात की सावधानी भी रखते हैं कि कोई गहने न ले जाए अथवा गहनों के लोभ से कोई सन्तान को खराब रास्ते पर न ले जाए या कोई उसे मार न डाले। इसी भाँति यह सावधानी भी रखनी चाहिए कि मन खराब संगति में न पड़ जाय। मन जब खराब कामो मे प्रवृत्त होने लगे तब उसे वहाँ से रोककर सत्कर्मों में प्रवृत्त करना ही मन के निरोध का प्रारम्भ है। इस प्रकार निरोध करने से ही मन एकाग्र होगा और जब मन एकाग्र होगा तभी जीवन में ज्ञानशक्ति प्रकट होगी। ज्ञान बाहर से नहीं आता। वह तो आत्मा मे ही मौजूद है, मगर मन एकाग्र न होने से ज्ञान पर आवरण आ जाता है। अगर मन को एकाग्र किया जाय तो ज्ञान का आवरण हट जाए और ज्ञानशक्ति प्रकट हो जाए। जब ज्ञानशक्ति प्रकट हो जाती है तब मिथ्यात्व का नाश हो जाता है और सम्यक्त्व की विशुद्धि होती है।

वस्तु को विपरीत रूप मे जानना, समझना या मानना मिथ्यात्व है। जीव को अजीव, अजीव को जीव, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है। अज्ञान के कारण ही भ्रम होता है और भ्रम का निवारण ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। ज्ञान मन की एकाग्रता से उत्पन्न होता है और मन की एकाग्रता मन की समाधि से

उत्पन्न होती है। अतएव मन को खराब कामों में जाने से रोकने के लिए सदा सावधान रहना चाहिए। मन की समाधि मोक्ष-प्राप्ति का कारण है। मनोयोग मोक्षप्राप्ति के लिए सहजयोग है और सहजयोग से आत्मा का कल्याण होता है। रथनेमि में पहले कितना अज्ञान था। अपने भाई अर्थात् भगवान् नेमिनाथ द्वारा त्यागी हुई राजीमती को अपनी पत्नी बनाने के लिए वह तैयार हो गया था। परन्तु राजीमती ने सदुपदेश द्वारा उसका अज्ञान दूर किया तब वह संयम मे प्रवृत्त हो गया, क्योंकि उसने ज्ञान द्वारा वस्तु का स्वरूप समझ लिया था। इस प्रकार जब वस्तु का स्वरूप समझ में आ जाता है तो किसी प्रकार का भ्रम नहीं रहने पाता। भ्रम तो अज्ञान के कारण ही उत्पन्न होता है। वस्तु के प्रति जो मोहबुद्धि पाई जाती है वह भी अज्ञान के कारण ही होती है। ज्ञान उत्पन्न होते ही मोहबुद्धि भी नष्ट हो जाती है। मोहबुद्धि का जब नाश हो जाता है तब जड़-चेतन का विवेक उत्पन्न होता है। विवेक उत्पन्न हो जाने पर प्रतीत होने लगता है कि पुद्गल जड़ है, चल है और जगत् की जूठन है और चेतन अनन्त शक्तियो से सम्पन्न ज्योतिर्मय है। इस प्रकार विवेकज्ञान से सांसारिक पदार्थों का वास्तविक स्वरूप समझ में आ जाता है। वस्तु का वास्तविक स्वरूप, मिथ्यात्व का नाश और सम्यक्त्व की विशुद्धि हुये विना समझ में नहीं आ सकता। अतएव आत्मकल्याण के लिए मन को समाधिस्थ करने की अत्यन्त आवश्यकता है। मन को सत्यमार्ग पर स्थापित किये विना एकाग्रता नहीं आती और ज्ञानशक्ति उत्पन्न नहीं होती और ज्ञान-शक्ति उत्पन्न न होने के कारण मिथ्यात्व का नाश नहीं होता तथा सम्यक्त्व की विशुद्धि नहीं होती। परिणाम स्वरूप आत्मा का कल्याण भी नहीं हो सकता। संक्षेप में, आत्मकल्याण के लिए मन का निरोध करना आवश्यक है।

मन का निरोध करना कठिन है, परन्तु भगवान् कहते हैं कि अभ्यास करने से मन का निरोध भी किया जा सकता है। आत्मा का कल्याण मन को समाधिस्थ करने से हो सकता है। अतएव मन को सत्यमार्ग पर स्थापित करने में ही कल्याण है।

हम सबका ध्येय आत्मा को सुखी बनाना ही है। मगर प्रश्न यह है कि इस ध्येय की पूर्ति किस प्रकार हो सकती है? शास्त्र में आत्मा को सुखी बनाने के जो उपाय बतलाये गये हैं, उन्हे अपनाओ, आत्मकल्याण करो। आत्मकल्याण ही आत्मसुख की चाबी है। ऐकान्तिक और आत्यन्तिक सुख प्राप्त करने से ही आत्मा सुखी हो सकता है। अतएव तुम अगर अपने मन को सत्यमार्ग पर स्थापित करके अर्थात् समाधिस्थ करके आत्मकल्याण की साधना का प्रयत्न करोगे तो निस्सन्देह निराबाध आत्मसुख प्राप्त कर सकोगे।

सत्तावनवाँ बोल।

वचन-समाधि

मन को सत्यमार्ग मे स्थापित करने से होने वाले लाभ का वर्णन किया जा चुका है। अब गौतम स्वामी प्रश्न करते है कि वचन को सत्यमार्ग मे स्थापित करने से जीव को क्या लाभ होता है?

मूल पाठ

प्रश्न-वयसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ?

उत्तर-वयसमाहारणयाए वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेइ, वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहित्ता सुलहबोहियत्तं निव्वत्तेइ, दुल्लहबोहियत्तं निज्जरेइ ॥५७॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! वचन के समाधारण से अर्थात् वचन को सत्यमार्ग मे स्थापित करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

उत्तर—वचन को सत्यमार्ग में स्थापित करने से जीवात्मा दर्शनपर्याय-सम्यक्त्वपर्याय निर्मल बनाता है और सम्यक्त्व की विशुद्धि करने से सुलभबोधिता प्राप्त करता है तथा दुर्लभबोधिता से निवृत्त होता है।

व्याख्यान

वचन को खराब कामो से निवृत्त करके, अच्छे कामों में प्रवृत्त करना ही वचन-निरोध का प्रारम्भ है। इस प्रकार वचन का निरोध करने से आत्मा में बहुत शक्ति आती है। वचन का दुरुपयोग न करते हुए परमात्मा के गुणगान में उपयोग करने से स्वाध्याय होता है और स्वाध्याय से आत्मा की शक्ति बढ़ती है।

कहा जा सकता है कि स्वाध्याय तो पाँच प्रकार का बतलाया गया है। उसमें परमात्मा के गुणगान को स्वाध्याय नहीं गिना। ऐसी स्थिति में परमात्मा का गुणगान स्वाध्याय कैसे कहा जा सकता है ?

इसका उत्तर यह है कि स्वाध्याय दो प्रकार से होता है—भाव से और अर्थ से। परमात्मा का गुणगान करने वाला भाव से तो स्वाध्याय ही करता है। परमात्मा का गुणगान करने में वचन का सदुपयोग करना अथवा शास्त्र में णमोकारमन्त्र की बड़ी महिमा बतलाई है—अतः णमोकारमन्त्र का जाप करने में वचन का सदुपयोग करना भावस्वाध्याय ही है। णमोकारमन्त्र में मन लगाकर वचन द्वारा उसका जाप करना स्वाध्याय ही है। इस प्रकार स्वाध्याय करने से आत्मा का बहुत लाभ होता है।

जिस वचन का सदुपयोग करने से आत्मा को एकान्त लाभ होता है, उसका दुरुपयोग करके आत्मा का अहित करना कहाँ तक उचित है। शास्त्र में तो वचन का महत्व बतलाया ही है, उपनिषत् में भी वचन का महत्व बतलाते हुए कहा गया है कि 'वाणी की शक्ति को नष्ट न किया जाय तो आत्मा को बहुत ही लाभ हो सकता है।'

इसी अध्ययन के चौदहवें बोल में गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है कि स्तवस्तुतिमंगल से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—स्तवस्तुतिमंगल से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप बोधिलाभ करता है।

इस प्रकार वचन का समाधारण करने से अर्थात् वचन का खराब कामों में दुरुपयोग न करके, अच्छे कामो मे सदुपयोग करने से सम्यक्त्व की विशुद्धि होती है। सम्यक्त्व और दर्शन-दोनो पर्यायवाची शब्द है। काया से अच्छे काम न हो सकें तो भी अगर वचन को अच्छे कामो में प्रयुक्त किया जाय तो भी लाभ हो सकता है।

वचन द्वारा मनुष्य के स्वभाव की परीक्षा होती है। वाणी के आधार पर मनुष्य के हृदय के भावों का अनुमान किया जा सकता है। जब साधारण मनुष्य भी वाणी से मन के भाव जान लेता है तो क्या परमात्मा वाणी से हृदय के भाव नहीं जानता होगा? परमात्मा सर्वज्ञ होने के कारण सभी भाव हस्तामलकवत् जानता है। अतएव अपने मन और वचन को खराब कामो मे प्रवृत्त न करके परमात्मा के गुणगान में ही प्रवृत्त करो। इसमें तुम्हारी दृष्टि की भी शुद्धि होगी और आचरण की भी। परमात्मा के गुणगान में ही मन और वचन का उपयोग करने से आत्मा का हित किस प्रकार होता है इस सम्बन्ध मे एक सुना हुआ दृष्टान्त देकर समझाता हूँ :—

सुनते हैं, श्रीपति नामक एक कवि ने निश्चय किया था कि मै परमात्मा के सिवाय किसी दूसरे का गुणगान नहीं करूँगा। वह कवि बादशाह अकबर के दरबार में रहता था। कुछ लोगों को

श्रीपति कवि की इस प्रतिज्ञा का पता चला। कवि अपनी प्रतिज्ञा में कितना दृढ़ है, इस बात की परीक्षा करने के लिए उन्होंने बादशाह से कवि की प्रतिज्ञा की बात कही। बादशाह ने कहा—अवसर देखकर कवि की प्रतिज्ञा की परीक्षा करके देखूंगा।

एक दिन कवि राजदरबार मे बैठा था। बादशाह ने कवि से कहा—'कविराज ! आज एक समस्या की पूर्ति कीजिए।' श्रीपति कवि बोले—समस्या की पूर्ति करना मेरा काम है, आप समस्या दीजिये। बादशाह ने कहा—

'करो मिल आश अकब्बर की।'

इस समस्या की पूर्ति कीजिये। समस्या सुनकर कवि समझ गया कि आज मेरी प्रतिज्ञा की परीक्षा हो रही है। पर हर्ज क्या है? अगर मै सच्चा कवि हूँ तो समस्या की पूर्ति भी करूँगा और अपनी प्रतिज्ञा का पालन भी करूँगा। इस प्रकार विचार कर कवि ने इस प्रकार समस्यापूर्ति की :—

हरि को यश छांडि औरन को भजे,
जिह्वा जो फटो उस लब्बर की,
अब की दुनिया गुनिया को रटे,
सिर बांधत पोट अटब्बर की।
श्रीपति एक गोपाल भजे,
नहिं मानत शंक कोउ जब्बर की,
जिसको हरि की परतीति नहीं,
'करो मिल आश अकब्बर की।'

अर्थात्—श्रीपति कहते हैं कि जो व्यक्ति परमात्मा का भजन करने में अपनी जीभ का सदुपयोग न करके लोभ-लालच से अथवा किसी अन्य कारण से दूसरे के गुणगान करने में जीभ का दुरुपयोग करता है, वह दूसरे की झूठी प्रशंसा करके वास्तव में अपने मस्तक पर पाप का बोझा लादता है ऐसे पापी की जिह्वा फटो। श्रीपति कवि कहते हैं—मैं तो सिर्फ गोपाल का ही भजन कर सकता हूँ और उन्हीं का गुणगान कर सकता हूँ। जिन्हें परमात्मा पर विश्वास न हो वे लोग भले ही अकबर की आशा करें, मगर मैं तो गोपाल के सिवाय और किसी से कोई आशा नहीं करता।

श्रीपति का कवित्त सुनकर बादशाह प्रसन्न हुआ। लोग समझ गये कि श्रीपति अपनी प्रतिज्ञा के पक्के हैं। बादशाह ने स्वीकार किया कि परमात्मा के सिवाय और कोई बड़ा नहीं है।

यह घटना वास्तव में घटी है या नहीं, इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हमें तो इस घटना के वर्णन से इतना ही सार ग्रहण करना है कि जीभ का उपयोग अगर परमात्मा का भजन करने में किया जा सकता है तो फिर दूसरे सांसारिक कार्यों में उसका दुरुपयोग करने की क्या आवश्यकता है? परमात्मा को छोड़कर अन्य कामों में जीभ का उपयोग करना तो, कवि के कथनानुसार एक प्रकार की धृष्टता है। परमात्मा त्रिभुवननाथ हैं, अतः उनका ही गुणगान करना उचित है। परमात्मा तीन भुवन के नाथ हैं अर्थात् तीनों लोकों में रहने वाले समस्त जीवों के स्वामी हैं। अतएव जगत् में रहने वाले किसी भी प्राणी, भूत, जीव तथा सत्त्व की आसातना न करना परमात्मा की प्रार्थना है। जिसमें जो गुण न हो, उस गुण का उसमें आरोप करना भी उसकी आसातना है।

जिसमें जो गुण है, उसके यथार्थ गुण का वर्णन करना और अगर अपने में ऐसा करने की शक्ति न हो तो यह कहना कि—'जिन भगवान् ने जो कुछ कहा है वह निःशंक है, सत्य है।' इस प्रकार कह कर आत्मा को परमात्मा के गुणगान में प्रेरित करो। ऐसा करने से समझ लो कि तुम्हारा कल्याण तुम्हारे ही हाथ मे है।

भगवान ने वचननिरोध से अनेक लाभ बतलाये है। जिस व्यक्ति को भगवान् पर भरोसा होगा वह परमात्मा का गुणगान करने में ही वचन का सदुपयोग करेगा। इस प्रकार वचन का सदुपयोग और निरोध करने वाला पुरुष अपने आत्मा का अवश्य कल्याण साध सकता है।

अट्ठावनवां बोल ।

कायसमाधि

मनःसमाधि और वचनसमाधि करने से जीवात्मा को ज्ञानविशुद्धि और दर्शनविशुद्धि का लाभ होता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। अब कायसमाधि अर्थात् काय का निरोध करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से पूछते हैं :—

मूलपाठ

प्रश्न—कायसमाहारणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

उत्तर—कायसमाहारणयाए चरित्तपज्जवे विसोहेइ, चरित्तपज्जवे विसोहित्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ, अहक्खाय-चरित्तं विसोहेत्ता चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥५८॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! कायसमाधि से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—हे गौतम ! काया को सत्यभाव से संयम में स्थापित करने से अर्थात् काया का निरोध करने से जीवात्मा चारित्र के पर्यायों को निर्मल करता है और चारित्र के पर्याय निर्मल करके अनुक्रम से यथाख्यातचारित्र की विशुद्धि करके चार केवली-कर्मांशों को खपाता है और तत्पश्चात् वह जीवात्मा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा शान्त होकर सब दुःखों का अन्त करता है।

व्याख्यान

काया का निरोध करने से सर्वप्रथम तो चारित्रपर्याय की विशुद्धि होती है। अर्थात् उदयभाव के कारण मलीन हुआ क्षायोपशमिकचारित्र निर्मल हो जाता है। उदयभाव की वृद्धि के कारण क्षायोपशमिकचारित्र दब जाता है और ज्यों ज्यों उदयभाव घटता जाता है, त्यों-त्यों क्षायोपशमिकभाव बढ़ता जाता है। इस प्रकार जो उदयभाव क्षायोपशमिकभाव को दबाता है वह उदयभाव काया का निरोध करने से हीन हो जाता है और फलस्वरूप क्षायोपशमिकभाव की शुद्धि होती है और जीवात्मा यथाख्यातचारित्र प्राप्त करता है।

यथाख्यातचारित्र कुछ बाहर से नहीं आता। वह तो आत्मा के स्वभाव में ही विद्यमान है। जैसे सूर्य पर बादल आजाने के कारण सूर्य ढँका हुआ या मलीन दिखाई देता है, उसी प्रकार कर्म के प्रभाव से यथाख्यातचारित्र भी ढँका हुआ और मलीन

रहता है। जब काया का निरोध किया जाता है तो मोहकर्म के कारण यथाख्यातचारित्र पर चढ़ा हुआ आवरण दूर हो जाता है तथा यथाख्यातचारित्र प्रगट हो जाता है। महावीर भगवान् कहते हैं कि यथाख्यातचारित्र प्रकट होने से केवली-अवस्था में विद्यमान रहने वाले चार कर्म—नाम, गोत्र, वेदनीय और आयुकर्म—नष्ट हो जाते है। यह चारों कर्म अघाति कर्म कहलाते हैं, क्योंकि यह चारों आत्मा के गुणों का घात नहीं करते, वरन् मोक्ष-प्राप्ति में बाधा उपस्थित करते हैं। इन चारों कर्मों का नाश होने से आत्मा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है और परिनिर्वाण पाता है।

काया का निरोध करने से आत्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय का ऊपर थोड़ासा विचार किया गया है। काया का निरोध करने के सम्बन्ध में विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि मन और वचन का निरोध कर लेने के बाद भी काया का निरोध करने की क्या आवश्यकता है? तथा काया स्थूल है और चारित्र के पर्याय सूक्ष्म है। ऐसी स्थिति मे स्थूल काया का निरोध करने पर भी सूक्ष्म चारित्रपर्याय किस प्रकार विशुद्ध हो सकते है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए भगवान् महावीर और गौतम स्वामी के बीच श्रीभगवतीसूत्र मे जो प्रश्नोत्तर हुए है, उनका उल्लेख कर देना सहायक होगा। गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया—'आया भंते! काया वा अन्ने भंते! काया?' अर्थात् हे भगवन्! आत्मा और काया एक ही है या अलग-अलग?

भगवान् ने फरमाया—'गोयमा! आया वि काया अन्ने वि काया।' अर्थात् आत्मा और शरीर एक भी है और दोनों भिन्न-भिन्न भी हैं।

जिस प्रकार दूध और घी एक भी हैं और जुदा-जुदा भी हैं, उसी प्रकार आत्मा और काया एक भी हैं और भिन्न-भिन्न भी हैं। अगर दूध और घी एक ही होता तो दूध में से घी निकलता ही कैसे ? और निकालने की आवश्यकता भी क्या थी ? और यदि दोनो भिन्न ही हो तो पानी की तरह दूध में से घी कैसे निकलता ? इसी भाँति आत्मा और काया एक भी है और भिन्न-भिन्न भी हैं। काया के नाम पर यह प्रश्न आत्मा के सम्बन्ध में ही किया गया है, अतः काया के सम्बन्ध में किया हुआ यह जुदा प्रश्न अनुचित नहीं है।

कुछ लोग आत्मा को काया से सर्वथा भिन्न मानते हैं और कुछ लोग दोनों को सर्वथा एक ही मानते हैं। परन्तु यह दोनो एकान्तवाद सच्चे नहीं है। क्योंकि आत्मा और शरीर किसी दृष्टि से एक भी हैं, किसी दृष्टि से अलग-अलग भी हैं। यद्यपि आत्मा और शरीर कथंचित् एक भी हैं परन्तु दोनों में अलग हो जाने की शक्ति है और इस कारण वे भिन्न-भिन्न भी है।

प्रश्न किया जा सकता है कि जब आत्मा और शरीर किसी अपेक्षा से एक हैं तो फिर इन दोनों का संयोग कब से हुआ है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इन दोनो का संयोग अनादि से है। कहा जा सकता है कि यदि दोनों का संयोग अनादिकाल से है तो अनादि संयोग छूट कैसे सकता है ? इस शंका का समाधान यह है कि दोनों का संयोग अनादि होने पर भी वह संयोग छूट सकता है। धातु और पाषाण का संयोग तथा घी और दूध का संयोग कब से है ? पहले कौन था और पीछे कौन हुआ ? इस प्रश्न का यही उत्तर दिया जा सकता है कि दोनो का संयोग एक ही साथ

हुआ है, फिर भी उसे भिन्न किया जा सकता है। इसी प्रकार कर्म के कारण आत्मा और शरीर का संयोग हुआ है। कर्म का भी आत्मा के साथ संयोग अनादि से है। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि आत्मा कभी कर्मरहित हो गया था और फिर कर्म से युक्त हो गया हो। आत्मा एक बार कर्मरहित हो जाने के बाद भी फिर कर्म से लिप्त हो जाता है, ऐसा मान लिया जाय तो सिद्ध भगवान् भी जो कर्मों से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं, फिर कर्मों से लिप्त हो जाएँगे। वास्तव मे कर्म और आत्मा का संयोग-सम्बन्ध अनादिकालीन होने पर भी, दूध और घी तथा धातु और पाषाण की तरह दोनो अलग-अलग हो सकते हैं। आत्मा और कर्म का बंध है और इसी कारण आत्मा का मोक्ष होता है अर्थात् आत्मा और कर्म का सम्बन्ध टूट जाता है। सांख्यमत का कथन है कि आत्मा बंधरहित अर्थात् सिद्ध, बुद्ध, मुक्त है। उनके मतानुसार आत्मा के साथ कर्म का बंध होता ही नहीं है। किन्तु यदि आत्मा का किसी के साथ बंध न माना जाय तो आत्मा का मोक्ष भी नहीं हो सकता। क्योंकि जब बंध ही न होगा तो मोक्ष कैसे होगा? बंध है तभी मोक्ष भी है। मोक्ष का अर्थ ही बंधन का छूटना है। जहाँ बन्धन ही न होगा, वहाँ उसका छूटना किस प्रकार कहा जा सकता है!

कहने का आशय यह है कि आत्मा और कर्म का संयोग अनादिकालीन होने पर भी टूट सकता है। आत्मा कर्म के संयोग से पृथक् हो सकता है। आत्मा और कर्म का जो संयोग अनादिकालीन कहा गया है, वह प्रवाह की अपेक्षा है। जैसे नदी का बहता पानी देखकर कहा जाता है कि यह वही पानी है जो कल था। परन्तु वास्तव में कल जो पानी था, वह तो बह गया है; फिर भी पानी के सतत प्रवाह के कारण ऐसा जान पड़ता है कि आज भी वही कल वाला पानी है। इसी तरह कर्म भी प्रवाहरूप में आते

रहते हैं और इसी कारण उनका संयोग अनादिकालीन है। वास्तव मे कर्म सदा सर्वदा सरीखे नहीं रहते। जिस प्रकार नदी का पानी पलटता रहता है उसी प्रकार कर्म भी बदलते रहते हैं। कर्म प्रवाह-रूप से आत्मा में आते ही रहते है, इसीलिए कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादिकाल का माना जाता है।

ऐसा समझकर आत्मा को शरीर से पृथक् करना चाहिए। काया को विषमता में से बाहर निकालकर समताभाव मे प्रवर्तित करना ही काया का समाधारण कहलाता है।

मन, वचन और काय के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न रीति से और इसी क्रम के अनुसार प्रश्न करने का कारण यह भी हो सकता है कि केवली भगवान् पहले मनोयोग का निरोध करते है, फिर वचनयोग का निरोध करते है और तत्पश्चात् काययोग का निरोध करके सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होकर परिनिर्वाण प्राप्त करते है। अतएव आपको भी काया का निरोध करने का प्रयत्न करना चाहिए। काया के निरोध से हम लोग भी सिद्ध हो सकते हैं। कहा भी है :—

सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
कर्म–मैल का अन्तरा, बूझै विरला कोय॥

जीव-कर्म भिन्न-भिन्न करो, मनुष्य जनम को पाय।
ज्ञानातम वैराग्य से, धीरज धर्म लगाय॥

जीव और शिव अर्थात् सिद्ध में केवल कर्म का ही अन्तर है। जीव कर्मसहित है और सिद्ध कर्मरहित है। सिद्ध पहले से ही

कर्मरहित नहीं होते वरन् जीव में से ही सिद्ध होते हैं। जो जीव कर्म-रहित हो जाता है वही सिद्ध कहलाने लगता है। अतएव जीवात्मा को कर्मरहित होकर सिद्ध बनने का प्रयत्न करना चाहिए। यह दुर्लभ मनुष्यजन्म सिद्धत्व प्राप्त करने के लिए ही प्राप्त हुआ है। मनुष्य-जन्म मोक्ष का द्वार है। मोक्ष-मन्दिर में पहुँचने के बाद वहाँ से फिर वापिस नहीं आना पड़ता। वहाँ आत्मा अनन्त आनन्द मे रमण करता है। मोक्ष में जाने के लिए तत्त्व का विचार करके, धर्म की सहायता लेकर जीवात्मा को मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। जीवात्मा कर्म से मुक्त होने का मार्ग जान सके, इसीलिए काय-समाधारण का प्रश्न पूछा गया है। शास्त्र मे सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होने का जो मार्ग बतलाया गया है, उस मार्ग पर अगर जीवात्मा प्रस्थान करे तो वह अवश्य ही अपना कल्याण कर सकता है।

६३

उनसठवाँ बोल।

ज्ञानसम्पन्नता

आत्मा को परमात्ममय बनाने का श्रेष्ठ साधन ज्ञान है। अतएव ज्ञान प्राप्त करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय में श्रीगौतम स्वामी, भगवान महावीर से प्रश्न करते हैं :—

मूल पाठ

प्रश्न—नाणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—नाणसंपन्नयाए जीवे सद्भावाहिगमं जणयइ, नाणसंपन्ने णं जीवे चाउरंते संसारकंतारे न विणस्सइ, जहा सुई ससुत्ता न विणस्सइ तहा जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ, नाणविणयतवचरित्तजोगे संपाउणइ, ससमय-परसमयविसारए य संघायणिज्जे भवइ ॥५६॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! ज्ञानसम्पन्न होने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

उत्तर—ज्ञानसम्पन्न होने से जीवात्मा सब पदार्थों के यथार्थ भाव को जान सकता है और चतुर्गति रूप संसार-अटवी में दुःखी नहीं होता। जैसे सूत्र (सूत-डोरा) सहित सुई गुम नहीं होती, उसी प्रकार सूत्र (आगमज्ञान) से युक्त ज्ञानी पुरुष संसार में भूलता नहीं है और ज्ञान, चारित्र, तप तथा विनय के योगों को प्राप्त करता है। साथ ही अपने सिद्धान्त और दूसरों के सिद्धान्त को ठीक तरह जानकर असत्य मार्ग में नहीं फँसता है।

व्याख्यान

मन, वचन और काय के निरोध के विषय मे जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उनके विषय मे विवेचन किया जा चुका है। इन प्रश्नोत्तरों में ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशुद्धि का खास तौर पर कथन किया गया है। अतएव गौतम स्वामी ने अब ज्ञान की प्राप्ति से होने वाले लाभ के विषय में प्रश्न किया है। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् फर्माते हैं—ज्ञानसम्पन्न जीवात्मा सभी भावों को अर्थात् तत्त्वों को जान सकता है और तत्त्वों का ज्ञान हो जाने के कारण वह चारगति रूप संसार में विनष्ट नहीं होता। जैसे डोरा वाली सुई कदाचित् नीचे गिर जाय तो भी डोरे के कारण जल्दी मिल जाती है, उसी प्रकार जो जीवात्मा श्रुतज्ञानरूप सूत्र से युक्त है, वह भी चतुर्गतिरूप संसार में विनष्ट नहीं होता। कदाचित् उसे संसार में भ्रमण करना भी पड़ता है तो वह जल्दी ही संसार से बाहर निकल जाता है। इसके सिवाय वह ससूत्र जीव श्रुतज्ञान के प्रभाव से संसार में

रहते हुए भी ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र को शीघ्र प्राप्त करके मुक्त हो जाता है और श्रुतज्ञान के प्रभाव से उस जीवात्मा को प्रत्यक्ष ज्ञान-अवधि, मनःपर्यय, केवल आदि ज्ञान—भी प्राप्त होते हैं और विनय, तप तथा चारित्र की भी प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं, वह श्रुतज्ञानी जीव स्वसमय (स्वसिद्धान्त) और परसमय (पर-सिद्धान्त) का ज्ञाता हो जाने के कारण विद्वानों के समागम में भी आता है और उनका संशय निवारण करने में भी समर्थ होता है।

यहाँ ज्ञान के विषय में जो प्रश्न किया गया है, उसका सम्बन्ध श्रुतज्ञान के साथ है, क्योंकि उद्देश, समुद्देश, आज्ञा और अनुज्ञा श्रुतज्ञान में ही होते हैं अर्थात् प्रारम्भ और समाप्ति श्रुतज्ञान की ही होती है। 'श्रुतज्ञान प्राप्त करो' ऐसा उपदेश श्रुतज्ञान के लिए ही दिया जाता है। मतिज्ञान आदि के लिए ऐसा उपदेश देने की आवश्यकता नहीं रहती। यहाँ ज्ञान का सामान्य रूप से कथन किया है, अतः पाँचों ज्ञानों का उसमें समावेश हो सकता है किन्तु वास्तव में इस प्रश्नोत्तर का सम्बन्ध श्रुतज्ञान के साथ ही है।

इस बोल में यह प्रश्न पूछा गया है कि ज्ञान प्राप्त करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है? इस पर विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि ज्ञान का अर्थ क्या है?

शब्दशास्त्री ज्ञान की तीन प्रकार से व्याख्या करते हैं—भावप्रधानता से, कर्त्तृप्रधानता से और करणप्रधानता से। 'ज्ञप्तिः ज्ञानम्' अर्थात् वस्तु को जानना भावप्रधान ज्ञान है। 'जानातीति ज्ञानम्' अर्थात् जो वस्तु को जानता है वह कर्त्तृप्रधान ज्ञान है और 'ज्ञायतेऽनेन इति ज्ञानम्' अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु जानी जाय वह करणप्रधान ज्ञान है। इस तरह भाव, कर्त्ता और करण की प्रधानता

देकर ज्ञान की तीन प्रकार से व्याख्या की जाती है। परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि यहाँ जो ज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है उसी मे तीनो पदार्थ गतार्थ हो जाते हैं। ज्ञान के तीनो अर्थ वस्तुस्वरूप समझने के लिए हैं—एक दूसरे का खंडन करने के लिए नहीं। जिस प्रकार सूत्र साहित्य में वस्तुस्वरूप समझने के लिए सात नयों का वर्णन किया गया है। यह सातों नय एक दूसरे का विरोध नही करते किन्तु वस्तुस्वरूप समझने में सहायता पहुँचाते हैं। इसी प्रकार ज्ञान की तीन व्याख्याएँ एक दूसरी का विरोध नही करतीं किन्तु वस्तुस्वरूप समझने में सहायता देती हैं। यद्यपि सामान्यतया सातों नयो में भेद है, परन्तु नयभेद एक नय द्वारा दूसरे नय का खंडन करने के लिए नही है। इसी प्रकार ज्ञान की तीनो व्याख्याएँ वस्तु-स्वरूप समझने के लिए है—आपस के खंडन के लिए नहीं।

अगर एक नय दूसरे का खंडन करे तो वह दुर्नय कहलाता है, उसी प्रकार ज्ञान की व्याख्याएँ भी अगर एक दूसरी का विरोध करें तो वह भी मिथ्या हो जाएँगी।

कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु का स्वरूप सरलतापूर्वक समझने के लिए ज्ञान आदि की विभिन्न व्याख्याएँ की जाती हैं। हमें भी ज्ञान की व्याख्याओं का उपयोग वस्तु-स्वरूप समझने में करना चाहिए। क्लेशोत्पादक वादविवाद करने मे ज्ञान की व्याख्याओं का दुरुपयोग नही करना चाहिए।

अब मूल प्रश्न पर विचार करें। श्रुतज्ञान प्राप्त करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा ही है कि श्रुतज्ञान द्वारा जीवात्मा सब पदार्थों के यथार्थभाव को जान सकता है। प्रत्यक्षज्ञानियो ने जो कुछ देखा है, वह श्रुत-

ज्ञान से ही जाना जा सकता है। उदाहरणार्थ—हम लोगों ने मेरु पर्वत नहीं देखा है, परन्तु जिनके ज्ञान का आवरण हट गया है और जिन्हे प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो गया है, उन्होंने मेरु पर्वत देखा है। अतएव हम लोग श्रुतज्ञान से मेरु पर्वत जानते हैं। प्रत्यक्षज्ञानी पदार्थों को प्रत्यक्ष देखते हैं, परन्तु श्रुतज्ञानी, प्रत्यक्षज्ञानी द्वारा देखे हुए पदार्थों को श्रुतज्ञान से जानकर उन पर श्रद्धा रखता है। भगवान् महावीर ने जो कुछ देखा या जाना था उसे हम प्रत्यक्ष रूप से नहीं देख सकते। भगवान् द्वारा देखी और जानी हुई वस्तु हम लोग श्रुतज्ञान से जान सकते हैं। इसी कारण श्रीदशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन में श्रुतज्ञान की महिमा बतलाते हुए कहा है—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे॥

—श्री दशवैकालिक सूत्र

अर्थात्—पुण्य को भी सुनकर जान सकते हैं और पाप को भी सुनकर जान सकते हैं तथा पुण्य पाप को भी सुनकर जान सकते हैं। अतएव श्रुतज्ञान प्राप्त करके जो कल्याणकारी हो उसी का आचरण करो।

पुण्य पाप सुनकर ही जाना जा सकता है, परन्तु सुनकर हमें करना क्या चाहिए, इस सम्बन्ध में कहा गया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

अर्थात्—संक्षेप में धर्म का सार सुनकर उसे जीवन में उतारो। सब धर्मों का सार यही है कि जो कार्य तुम्हें अपने प्रतिकूल जान पड़ता हो, दूसरों के प्रति उसका आचरण मत करो।

श्रीसूयगडांग सूत्र में भी ऐसा ही कहा है :—

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं।

अर्थात्—ज्ञानीजनो के कथन का सार मात्र यही है कि तुम किसी की हिंसा मत करो—किसी को सताओ नहीं।

श्रीउत्तराध्ययनसूत्र के छठे अध्ययन में सर्वभूत-समभाव रखने के लिए स्पष्टरूप से कहा है :—

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए॥

श्री उ० अ० ६

अर्थात्—अपने ही आत्मा की तरह, सर्वत्र, सब प्राणियों को देखकर अर्थात् यह जानकर कि अन्य प्राणियों को भी अपने प्राण उसी प्रकार प्रिय हैं, जैसे मुझे हैं, भय और वैर से निवृत्त हुआ आत्मा किसी भी प्राणी के प्राणों का हनन न करे।

शास्त्र के इस सारगर्भित सूत्र को स्पष्टरूप से समझाने के लिए एक व्यावहारिक उदाहरण देता हूँ :—

मान लो, कोई क्रूर मनुष्य हाथ में तलवार लेकर तुम्हें मारने के लिए तैयार हुआ है। इसी समय कोई दयालु मनुष्य आता है और वह उसे मारने से रोकता है। अब इन दोनों में से तुम्हें कौन-सा मनुष्य अच्छा लगेगा? इस प्रश्न का निश्चितरूप से तुम यही उत्तर दोगे कि हमें बचाने वाला मनुष्य ही अच्छा लगेगा। यह बात तुम किसी के कहने से या किसी दूसरे की प्रेरणा से नहीं कहते। यह कथन आत्मसाक्षी का कथन है तो जिस प्रकार तुम्हें यह पसन्द नहीं है कि कोई तुम्हें मारे, उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को

भी यह पसन्द नहीं है कि तुम उन्हें मारो। अतएव किसी को न मारना धर्म है। तुम्हारे सामने झूठ बोलकर कोई तुम्हें ठग ले जाय अथवा तुम्हारी कोई चीज़ चुरा ले जाय तो क्या तुम यह पसन्द करोगे? तो क्या दूसरों को ठगना या दूसरों की कोई चीज़ छीन लेना तुम्हारे लिए उचित है? अतएव जैसा व्यवहार तुम अपने लिए पसन्द नहीं करते वैसा व्यवहार तुम दूसरों के साथ भी मत करो। इतना ही नहीं, बल्कि अगर तुम्हारी शक्ति है तो उस शक्ति का उपयोग दूसरों की सहायता के लिए करो। अपनी शक्ति का सदुपयोग करना स्व-पर का कल्याण करना है। शक्ति होने पर भी अगर दूसरों की सहायता मे उसका उपयोग नहीं करते तो तुम्हारी शक्ति किस काम की है? शक्ति होने पर भी दूसरों की सहायता न करने वाला कैसा कहलाता है, इस विषय में एक प्राचीन कथा सुनाता हूँ।

राजशेखर नामक एक पंडित बहुत संकटमय अवस्था मे था। खाने के लिए उसे भरपूर अन्न भी नहीं मिलता था। ऐसी दुःखद अवस्था में भी उसने धीरज नहीं छोड़ा। उसने विचार किया—अगर मैं पुरुषार्थ करूँगा तो मेरी दरिद्रता दूर हो जायगी। इस प्रकार विचारकर वह आजीविका की पूर्ति के लिए धारा नगरी में (वर्त्तमान धार मे) आया।

एक दिन राजशेखर पंडित मिट्टी के सिकोरा में खराब अनाज साफ कर रहा था। राजा भोज ने घूमने जाते समय यह दृश्य देखा। यह देखकर राजा समझ गया कि यह कोई विद्वान् पुरुष जान पड़ता है। उसकी विद्वत्ता की जाँच करने के लिए उसे लक्ष्य करके राजा भोज ने संस्कृत में कहा—जो लोग अपना पेट

भी नहीं भर सकते, वे इस संसार में जीवित रहे तो क्या और जीवित न रहें तो क्या ?

राजा का यह कथन सुनकर राजशेखर के हृदय को बड़ा आघात लगा। उसने संस्कृत भाषा में ही उत्तर दिया—जो शक्तिशाली होकर भी दूसरों की सहायता नहीं करते, वे इस संसार मे रहे तो क्या और न रहें तो क्या ?

राजशेखर का करारा उत्तर सुनकर भोज को विश्वास हो गया कि यह कोई विद्वान पुरुष है। मगर इतना विद्वान् होने पर भी यह इतना गरीब क्यों है ? यह जानने के लिए भोज ने पूछा—किस कारण तुम्हारी ऐसी दशा हुई है ? राजशेखर ने कहा—तुम सरीखे उदार राजा सब जगह नहीं हैं। इसी कारण मेरी यह दशा हुई है। यह रहस्यपूर्ण उत्तर सुनकर राजा ने मन में विचार किया—अब मुझे इस विद्वान् की पूरी-पूरी सहायता करनी ही चाहिए।

इस प्रकार विचार कर राजा हाथी से उतर पड़ा और हाथी राजशेखर को दे दिया। राजशेखर सोचने लगा—मुझे तो पेटभर खाना नहीं मिलता ! अब मैं इस हाथी को अपने घर कैसे बाँधूं ! इस प्रकार विचार कर राजशेखर ने हाथी के मुख के पास अपने कान लगा दिये और अपना सिर इस तरह हिलाने लगा, मानो हाथी पंडित के कान में कुछ कह रहा हो ! यह विचित्र दृश्य देखकर राजा ने पूछा—'क्या हाथी कुछ कह रहा है ?'

राजशेखर—जी हाँ। हाथी मुझसे कह रहा है कि मुझे लेकर तुम बाँधोगे कहाँ ? अतएव भलाई इसी में है कि तुम राजा को फिर भेट रूप में मुझे सौंप दो। ऐसा करने से मैं भी आनन्द में

रहूँगा और राजा द्वारा जो धन तुम्हें पुरस्कार मे मिलेगा, उसे पाकर तुम भी आनन्द मे रहोगे।

राजा भोज राजशेखर का आशय समझ गया। उसने राजशेखर को बहुतसा धन देकर सुखी बना दिया।

कहने का आशय यह है कि अपने पास शक्ति हो तो प्रत्येक समर्थ व्यक्ति को दूसरों के दुःख दूर करने मे उसका व्यय करना चाहिए। दूसरो की सहायता करने वाला ही दूसरों से सहायता लेने का अधिकारी है। जो लोग ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि करने मे सहायक बनते है, वे स्व-पर का कल्याण करते है।

६४

साठवां बोल।

दर्शनसम्पन्नता

पिछले बोल में ज्ञानसम्पन्नता से होने वाले लाभ का विचार किया गया है। ज्ञानसम्पन्नता से जीवात्मा समस्त पदार्थों के यथार्थ भाव को जान सकता है और फलस्वरूप चतुर्गतिरूप संसार-अटवी में दुःख नहीं पाता। जैसे डोरा वाली सुई गुमती नहीं, उसी प्रकार ज्ञानी जीव संसार की भूल भूलैया में नहीं पड़ता और ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा विनय के योग प्राप्त करता है। इसी प्रकार अपने और दूसरों के सिद्धान्त को भलीभाँति जानकर असत्य मार्ग में फँसता नहीं है।

भगवान् महावीर ने ज्ञानप्राप्ति का यह मार्ग बतलाया है। सच्चा ज्ञान, सम्यक्त्व अर्थात् सच्चे दर्शन के अभाव में उत्पन्न नहीं होता। अतएव अब दर्शन के विषय में प्रश्न किया जाता है।

ज्ञान और दर्शन का परस्पर में सहयोग है। जब ज्ञान होता है तो दर्शन भी होता है और जब दर्शन होता है तब ज्ञान भी होता

है। प्रश्न किया जा सकता है कि यदि ज्ञान और दर्शन का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है तो दर्शन के विषय में अलग प्रश्न क्यो किया गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि श्रुतज्ञान सांव्यवहारिक है, जब कि दर्शन सांव्यवहारिक नहीं है। ज्ञान का तो आदान-प्रदान हो सकता है पर दर्शन का आदान-प्रदान नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त सम्यग्ज्ञान तभी उत्पन्न होता है, जब सम्यग्दर्शन विद्यमान हो। दर्शन के बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। शास्त्र मे कहा है—'नादंसणिस्स नाणं।' अर्थात् जिस व्यक्ति मे दर्शन अर्थात् सम्यक् श्रद्धा नहीं होती उसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता। उसका ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है। वही ज्ञान सच्चा है जो सम्यक्त्व के साथ होता है। ज्ञान भी क्षायोपशमिक भाव है और अज्ञान (मिथ्याज्ञान) भी क्षायोपशमिक भाव है। मगर दोनों में सम्यक्त्व होने और न होने के कारण ही अन्तर है। अतएव गौतम स्वामी अब दर्शन के विषय में भगवान से प्रश्न करते हैं :—

मूल पाठ

प्रश्न—दंसणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ, परं न विज्झायइ, परं अविज्झमाणे अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ ॥६०॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! दर्शन प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गौतम ! दर्शनसम्पन्न (सम्यग्दृष्टि) जीव संसार के मूल मिथ्यात्व अज्ञान का छेदन करता है। उसके ज्ञान का प्रकाश बुझता नहीं है और उस प्रकाश में श्रेष्ठ ज्ञान तथा दर्शन से अपने आत्मा को संयोजित करके सुन्दर भावनापूर्वक विचरता है।

व्याख्यान

भगवान् ने दर्शनसम्पन्नता से मिथ्यात्व का नाश होना बतलाया है। परन्तु मिथ्यात्व का नाश तो क्षयोपशम सम्यक्त्व से भी होता है, फिर दर्शनसम्पन्नता से विशेष लाभ क्या हुआ ? इसका उत्तर यह है कि जैसे खुली हवा में रक्खे हुए दीपक के बुझ जाने का भय रहता है, उसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के नष्ट होने का भी भय बना रहता है। क्षायिक सम्यक्त्व के लिए यह भय नहीं है। इसी कारण भगवान् ने अपने उत्तर में 'परं' शब्द का प्रयोग करके यह सूचित किया है कि दर्शनसम्पन्नता से मिथ्यात्व का पूर्ण नाश होता है और वह क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है जिसके नाश होने का भय ही नहीं रहता। दर्शनसम्पन्नता से जीव को मिथ्यात्व के नाश के साथ क्षायिक सम्यक्त्व की भी प्राप्ति होती है।

संसार-भ्रमण का प्रधान कारण मिथ्यात्व ही है। कारण के बिना कार्य नहीं होता। संसार-भ्रमणरूप कार्य का कारण मिथ्यात्व है। दर्शनसम्पन्नता, मिथ्यात्व का नाश करती है और कारण के अभाव में कार्य किस प्रकार हो सकता है ? जो वस्तु जैसी है उससे विपरीत मानना ही मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का छेद हो जाने से संसार-भ्रमण भी नहीं करना पड़ता।

मिथ्यात्व संसार का कारण है और सम्यक्त्व मोक्ष का कारण है। दर्शनसम्पन्न व्यक्ति मिथ्यात्व का छेदन करके क्षायिक

सम्यक्त्व प्राप्त करता है। क्षायिक सम्यक्त्व वाला पुरुष या तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त करता है या भव-स्थिति अधिक होने पर अधिक से अधिक तीन भव में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन तो उत्पन्न होकर नष्ट भी हो जाता है, किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् फिर नष्ट नहीं होता। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने से परम ज्ञान और परम दर्शन प्राप्त करके दर्शनसम्पन्न व्यक्ति, आनन्दपूर्वक क्षायिक ज्ञान-दर्शन में रमण करता है।

सम्यक्त्व के तीन भेद हैं :—(१) उपशम गुण से प्राप्त होने वाला (२) क्षयोपशम गुण से प्राप्त होने वाला और (३) क्षायिक गुण से प्रकट होने वाला सम्यक्त्व। इन तीनों प्रकार के सम्यक्त्वों में कितना अन्तर है, यह बात पानी का उदाहरण देकर समझाई जाती है। एक पानी ऐसा होता है जो मलीन होता है परन्तु दवा डालने से उसका मैल नीचे जम गया है। दूसरे प्रकार का पानी ऐसा होता है कि वह ऊपर से तो स्वच्छ दिखाई देता है परन्तु उसमे मैल साफ नजर आता है। तीसरे प्रकार का पानी वह है जो पहले मलीन था किन्तु उसका मैल नीचे बैठ जाने पर निर्मल पानी नितार कर अलग कर लिया गया है। इस तीसरे प्रकार के पानी के फिर मलीन होने की सम्भावना नहीं है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के विपाक में शान्त हो किन्तु प्रदेश में उदयाधीन रहता हो, वह क्षयोपशम से प्राप्त सम्यक्त्व कहलाता है। मिथ्यात्व का उदय जब प्रदेश और विपाक—दोनों में शान्त हो तब उपशम सम्यक्त्व होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से औपशमिक सम्यक्त्व अच्छा है। तीसरा सम्यक्त्व क्षायिक है। जब मिथ्यात्व प्रदेश और उदय—दोनों से पृथक् हो गया हो अर्थात् मिथ्यात्व किसी भी प्रदेश में अथवा उदय में न रहे तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

एक सम्यक्त्व के होने से ही आत्मा किस प्रकार उन्नत हो सकता है, इस सम्बन्ध में श्रेणिक का उदाहरण दिया गया है। सम्यक्त्व होने पर उसके सहायक अन्य गुण भी उत्पन्न हो जाते हैं और उस अवस्था में आत्मा का भी अभ्युदय होता है।

राजा श्रेणिक की रानी चेलना थी। चेलना की सदैव भावना बनी रहती थी कि मेरा पति किस प्रकार धार्मिक बने? उसकी यह मान्यता थी कि अगर मैं अपने पति को धर्मभावना से ओतप्रोत करूँ तो ही सच्ची पतिव्रता पत्नी कहलाऊँ! दूसरी तरफ श्रेणिक सोचता था—'पत्नी को क्या अभी से धर्म की लत लग गई है! इसे इस लत से किसी प्रकार छुड़ाना चाहिए।' इस प्रकार पति और पत्नी—दोनों का ध्येय एक दूसरे से विपरीत था और दोनों ही अपने-अपने ध्येय के अनुसार कार्य करने में जुटे हुए थे। रानी सोचती थी—महाराज मुझे ठगने का प्रयत्न करते हैं और मैं राजा को शुद्ध करने का प्रयत्न करती हूँ। राजा सोचता था—रानी को धर्म की बीमारी लग गई है और मैं उसे इस बीमारी से बचाने की कोशिश कर रहा हूँ।

श्रेणिक राजा, रानी को धर्मश्रद्धा से विचलित करने के लिए कई बार छल-कपट करता था। अतएव रानी ने सबको सूचना कर दी थी कि जो महात्मा चार ज्ञान के धारक, समर्थ तथा व्रत-पालन में दृढ़ हो, वही यहाँ पधारें, क्योंकि यहाँ राजा की तरफ से, धर्मश्रद्धा से विचलित करने के लिए छल किया जाता है। यहाँ कोई साधारण साधु न पधारें। इस सूचना पर ध्यान न देकर अगर कोई साधारण साधु यहाँ पधारेंगे तो वे राजा के कपट-जाल में फँस जाएँगे और नतीजा यह होगा कि धर्म की अवहेलना होगी। रानी की इस सूचना के कारण श्रेणिक के राज्य में समर्थ साधु ही

आते थे। सामान्य साधुओं ने तो उनके राज्य मे जाना भी बन्द कर दिया था।

एक महात्मा ग्रामानुग्राम विचरते हुए राजगृह में पधारे। राजा ने सुना कि रानी के गुरु राजधानी में आये है। यह सुनकर उसने सोचा—'रानी के गुरु को अपमानित करने का यह ठीक अवसर हाथ लगा है। रानी का गुरु भ्रष्ट होगा तो रानी का धर्मगौरव भी हल्का पड़ जायगा।

इस प्रकार विचार कर राजा ने एक वेश्या को बुलाकर कहा—तू उस साधु के स्थान पर जा और किसी भी उपाय से उसे भ्रष्ट करके वापिस यहाँ आ। तू मेरा यह काम कर देगी तो तुझे मुंह-माँगा इनाम दूंगा। वेश्या तो राजा का काम मुफ्त में ही करने को तैयार थी, तिस पर राजा की सहायता और इनाम मिलने की आशा से उसने तुरंत हाँ भर ली। वह सिंगार सजकर और कामोत्तेजक अन्य सामान लेकर साधु के स्थान पर गई। साधु ने उसे देखते ही कहा—'खबरदार! रात्रि के समय हमारे स्थान पर स्त्रियों का आना निषिद्ध है। यह कोई गृहस्थ का मकान नहीं है। यहाँ साधु रहते है।'

वेश्या बोली—महाराज! आपका कहना सही है, मगर आपका कहना वही मान सकती है जो आपकी आज्ञा माथे चढ़ाती हो। मैं तो दूसरे ही कारण से यहाँ आई हूँ। मै आपको किसी प्रकार का कष्ट देने नहीं आई। आपका मनोरंजन करने और आपको सुख पहुँचाने के लिए ही आई हूँ।

इतना कहते-कहते वेश्या, साधु के स्थान मे घुस गई। साधु समझ गये कि यह मुझे भ्रष्ट करने की बुद्धि से यहाँ आई है। मै

अपने शीलव्रत पर दृढ़ हूँ किन्तु जब यह बाहर निकलेगी और कहेगी कि मैं साधु के शीलव्रत को भंग कर आई हूँ, तब मेरा कहा कौन सुनेगा ?

महात्मा ने उस समय अपनी लब्धि द्वारा विकराल रूप धारण किया। यह देखकर वेश्या घबराई और कहने लगी—महाराज ! क्षमा करो। मुझे बचाओ। मै तो राजा श्रेणिक के कहने से आई हूँ। मै तो अभी यहाँ से भाग जाती, मगर क्या करूँ लाचार हूँ। बाहर ताला लग गया है। बाहर निकलने का कोई उपाय नही है। आप मुझ पर दया कीजिये।

उन महात्मा ने वैक्रिय लब्धि द्वारा अपना वेष ही बदल डाला था। शास्त्र में कारणवश वेष बदल लेने का विधान है। अपवादरूप मे साधुलिंग को बदलने का शास्त्र मे कथन किया गया है। चारित्र की रक्षा तो उस समय भी की जाती है किन्तु अवसर आ जाने पर लिंग बदल डालने का अपवाद मार्ग में कथन है।

एक ओर यह घटना घट रही है। दूसरी ओर राजा, रानी से कह रहा है—तुम अपने गुरु की इतनी प्रशंसा करती थीं, अब जरा उनका हाल तो देखो ! उन्होंने तो एक वेश्या घर में घुसेड़ रक्खी है।

चेलना ने आश्चर्यपूर्ण स्वर मे कहा—ऐसा ? मगर जब तक में अपनी आँखों न देख लूं तब तक मान नहीं सकती। अगर यह बात सच होगी तो मैं उन्हें अपना गुरु नहीं मानूँगी। आप तो सत्य के उपासक है। आप जैसा कहते हैं, दिखलाइए।

राजा—मैं तो देख ही चुका हूँ। अब बात बढ़ाने से क्या लाभ है ?

रानी—जब तक मै अपनी आँखों से देख न लूं तब तक हर्गिज़ मानने को तैयार नहीं। अगर मैं ऐसा देखूंगी तो उसी घड़ी उन्हे साधु मानना छोड़ दूंगी।

आखिर राजा, चेलना रानी को साथ लेकर साधु के स्थान पर आया। दरवाजा खोला गया। दरवाजा खुलते ही वेश्या ऐसी भागी आई, मानो पींजरा खुलते ही पक्षी भागकर निकला हो! आते ही उसने कहा—आप और कोई भी काम मुझे सौंप दें, मगर साधु के पास जाने का काम मुझे न बताइएगा। आज इन महात्मा के तपस्तेज में मैं भस्म ही हो गई होती, मगर उन्ही की दया से मेरे प्राण बच गए!

वेश्या की बात सुनकर रानी ने राजा से कहा—महाराज! यह वेश्या क्या कह रही है? इसके कहने से तो मालूम होता है कि आपने ही इसे यहाँ भेजा था। भले ही आपने इसे भेजा हो मगर मैं तो पहले ही कह चुकी हूँ कि मेरे गुरु को इन्द्राणी भी नहीं डिगा सकती। पर यह जो कह रही है, उस पर तो विचार कीजिए।

रानी की बात सुनकर राजा लज्जित हो गया। कहने लगा-वेश्या की बातों पर अधिक ध्यान देना ठीक नही है। अब यह बात जाने दो!

रानी ने कहा—ठीक है। यह वेश्या आत्मा की दृष्टि से मेरी बहिन के समान है फिर भी इसकी बात छोड़ देती हूँ। मगर आप भी यह बात जाने दीजिए। अच्छा, जरा उन महात्मा के पास तो चले।

दोनों महात्मा के पास पहुँचे। देखा, महात्मा किसी दूसरे ही वेष में थे। यह देखकर रानी ने राजा से कहा—यह देखो, यह मेरे गुरु ही नहीं हैं! मैं तो द्रव्य और भाव—दोनों से जो युक्त हो;

उसी को अपना गुरु मानती हूँ। इन महात्मा का वेष मेरे गुरु का वेष नहीं है। जब मेरे गुरु का वेष ही नहीं है तो इन्हें अपना गुरु कैसे मान लूं ?

कुछ लोग कहते हैं कि रजोहरण और मुखपत्ती में क्या धरा है! परन्तु वास्तव में इनका बहुत अधिक महत्व है। चिह्न का कितना अधिक महत्व है! स्टीमर, मोटर आदि पर जो चिह्न रक्खा जाता है, उसका कितना अधिक महत्व गिना जाता है? इसी प्रकार मुखवस्त्रिका भी जैनधर्म के साधुओं की निशानी है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे रजोहरण-मुखवस्त्रिका आदि को ऋषीश्वर की ध्वजा कहा है। इसी शास्त्र में कहा है—'लोगे लिंगपयोयणं' अर्थात् लोक मे लिंग का प्रयोजन है।

कहने का आशय यह है कि धर्मी द्वारा ही धर्म की पहचान होती है। रानी ने राजा से कहा—महाराज! धर्म के प्रति इस प्रकार छल-कपट करना छोड़ दो। आखिर रानी की बात राजा के गले उतर गई। बाद में अनाथी जैसे महानिर्ग्रन्थ के संसर्ग में आने से उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति भी हुई। राजा श्रेणिक सम्यक्त्व के प्रभाव से कैसा आत्मलाभ प्राप्त कर सके, इस सम्बन्ध में ग्रंथों में कहा है :—

न सेणिओ आसितया बहुस्सुओ,
न याचि पन्नत्तिधरो न वायगो।
सो आगमिस्साइ जिणो भविस्सइ,
समिक्ख पन्नाइ वरं खु दंसणं ॥

अर्थात्—राजा श्रेणिक एक नवकारसी भी नहीं कर सका था। वह बहुश्रुत भी नहीं था। साधुपना उसने धारण नहीं किया

था और न वह वाचक-व्याख्याता ही था। फिर भी शुद्ध सम्यक्त्व के कारण वह भविष्य में पद्मनाभ नामक तीर्थङ्कर होगा।

श्रेणिक राजा पहले तो धर्म की आवश्यकता ही स्वीकार नहीं करता था। किन्तु भगवान् महावीर के तथा महानिर्ग्रन्थ अनाथी मुनि के संसर्ग में आने के बाद उसमें वज्रलेप जैसी निःशङ्क श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। धर्म के प्रति निश्चल श्रद्धा होने के कारण ही श्रेणिक आत्मकल्याण साध सके।

राजा श्रेणिक सम्यक्त्व में बहुत दृढ़ थे। उनकी धर्मदृढ़ता की प्रशंसा सुनकर एक देव ने विचार किया—आखिर तो श्रेणिक एक मनुष्य हैं! मनुष्य को धर्म से विचलित करना कौन बड़ी बात है। एक दिन जब श्रेणिक राजा बाहर घूमने के लिए निकला तो वह देव साधु के वेष में शिकारी का स्वांग सजकर, शंकित होता हुआ राजा के पास से निकला। राजा के कर्मचारियों ने साधु-वेषधारी शिकारी देव को देखकर राजा से कहा—देखिए महाराज! यह आपके धर्मगुरु जा रहे हैं। हाथ में मछली पकड़ने का जाल लिए, जाते हुए साधु-वेषधारी देव को देखकर राजा ने विस्मय के साथ पूछा—'यह क्या है?' उसने उत्तर दिया—राजन्! मैं मछलियाँ पकड़ने जा रहा हूँ। मैं तुम्हारी आँखों के सामने आ गया हूँ, इसलिए भले ही मुझे दोषी गिन लो, पर वास्तव में महावीर भगवान् के सभी साधु मेरे समान ही हैं।

राजा के लिए यह समय सम्यक्त्व से विचलित होने का था, मगर उसकी श्रद्धा तो वज्रलेप के समान दृढ थी। उसने उत्तर में कहा—अपनी शिथिलता के लिए अपने आत्मा को दोष दो। सब साधुओं को झूठा कलङ्क मत लगाओ। भगवान् महावीर के साधु तुम सरीखे शिथिलाचारी हो ही नहीं सकते!

राजा श्रेणिक साधु-वेषधारी देव को फटकार बतलाकर थोड़ा और आगे बढ़े। वहाँ उन्होंने गर्भवती स्त्री की तरह मोटे पेट वाली साध्वी अपनी ओर आती देखी। साध्वी कभी गर्भवती नहीं हो सकती, फिर भी साध्वीवेष मे उस गर्भवती को देखकर राजा ने कहा—'यह कौन अभागिनी है!' साध्वीवेषधारी देव ने कहा—राजन्! मै आज अचानक तुम्हारी दृष्टि मे आ पड़ी हूँ। नहीं तो भगवान् महावीर की सभी साध्वियाँ मुझ जैसी दुराचारिणी ही है। राजा ने उसे उपालम्भ देते हुए कहा—'तुम आप दुराचारिणी हो, इस कारण सभी साध्वियों को कलंकित करना चाहती हो!'

धर्मश्रद्धा को डिगा देने वाली घटनाएँ देखकर भी राजा श्रेणिक की निश्चल श्रद्धा में भगवान् महावीर के धर्म के प्रति लेश-मात्र भी सन्देह नहीं उत्पन्न हुआ। देव, राजा की धर्मश्रद्धा देखकर चकित रह गया। अन्त में उसने अपना मायाजाल समेट लिया। वह राजा के पास आया और कहने लगा—महाराज! तुम्हारी धर्मपरीक्षा करने के लिए ही मैंने यह स्वांग रचे थे।

कहने का आशय यह है कि व्रत-प्रत्याख्यान करने की शक्ति न होने पर भी अगर सच्ची धर्मश्रद्धा कायम रहे अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व हो तो आत्मा का कल्याण अवश्य होता है। अगर तुम अपने आत्मा का कल्याण करना चाहते हो तो तुम्हें भी सम्यक्त्व में दृढ़ रहना चाहिए। इस विषम पंचमकाल मे श्रद्धा को विचलित करने वाली अनेक बातें सुनी और देखी जाती हैं। मगर हृदय मे सच्ची श्रद्धा हो तो संसार मे कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो तुम्हे धर्म से डिगा सके। धर्मश्रद्धा में दृढ़ रहने से ही तुम्हारा कल्याण होगा।

एकसठवां बोल ।

चारित्रसम्पन्नता

शास्त्र में कहा है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र—यह रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है। तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है—'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।' अर्थात्—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—यह तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग है। ज्ञान से वस्तु जानी जाती है, दर्शन से जानी हुई वस्तु पर श्रद्धा की जाती है और तब तदनुसार आचरण किया जाता है। गौतम स्वामी और भगवान् महावीर के बीच जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उन पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। अब गौतम स्वामी चारित्र के विषय में भगवान् से प्रश्न करते है :—

मूल पाठ

प्रश्न—चरित्तसंपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—चरित्तसंपन्नयाए सेलेसीभावं जणयइ, सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ ॥ ६१॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! चारित्रसम्पन्नता से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

उत्तर—चारित्र-सम्पन्नता से जीव शैलेशी (मेरु पर्वत की तरह निश्चल) भाव को प्राप्त करता है। शैलेशीभाव को प्राप्त अनगार बाकी बचे हुए चार कर्मों को खपाता है और फिर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा परिनिर्वाण को प्राप्त करके समस्त दुःखों का अन्त करता है।

व्याख्यान

पूर्ण चारित्रसम्पन्नता से जीव शैलेशी-अवस्था प्राप्त करता है। शैलेशी अवस्था अर्थात् कंपन-रहित अवस्था प्राप्त करना। जैसे शैल अर्थात् पर्वत अकंप होता है, उसी प्रकार शैलेशी अवस्था को प्राप्त जीवात्मा भी निष्कंप बन जाता है। शैल का अर्थ पर्वत और ईश का अर्थ प्रधान है। जैसे सुमेरु पर्वत अटल-अडोल-अचल और अकंप है, उसी प्रकार पूर्ण चारित्रसम्पन्नता से जीवात्मा मन, वचन तथा काय के योगों को रोककर सुमेरु के समान निश्चलता प्राप्त करता है। चारित्रसम्पन्नता से आत्मा लेश्यारहित अवस्था पाता है, ऐसा अर्थ भी घट सकता है, क्योंकि लेश्या के होने पर ही कंपन होता है। जीव जब लेश्याहीन हो जाता है तब वह अचल बन जाता है।

चारित्र का अर्थ है—पूर्ण शील अथवा पूर्ण संवर की प्राप्ति। अहिंसा, सत्य आदि उत्कृष्ट संवर की प्राप्ति होना उत्कृष्ट चारित्र है। उत्कृष्ट चारित्र प्राप्त करके आत्मा तेरहवें गुणस्थान से चौदहवाँ गुणस्थान प्राप्त करके अडोल-अकंप बन जाता है। अर्थात् मन, वचन तथा काय के योगों का निरोध करके अयोगी बन जाता

है। अयोगी होने के बाद जीवात्मा केवली सम्बन्धी चार कर्मों को नष्ट करके पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण जितनी स्थिति भोगकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है। इस प्रकार वह जीव सब प्रकार के परिग्रह से मुक्त होकर समस्त दुःखो का अन्त करता है।

साधारणतया पुरुष के लिए स्त्री का और स्त्री के लिए पुरुष का त्याग करना शील समझा जाता है। मगर शास्त्र कहते है कि शील मे समस्त संवर के गुणो का समावेश हो जाता है। सवर-गुण मे आना ही शील कहलाता है। सब प्रकार से पूर्ण अहिंसक, सत्यवादी अस्तेयव्रती, ब्रह्मचारी तथा निष्परिग्रही होना ही सम्पूर्ण शील है। शील के इन साधनो को कोई पूर्ण रूप में स्वीकार करते है, कोई आंशिक रूप में। श्रीसूयगडांगसूत्र मे कहा है—जो व्यक्ति एक देश से भी शील के साधनो को स्वीकार करता है, वह भी मोक्ष का पथिक है। शील का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाला ही मोक्ष-के मार्ग पर जा सकता है, अन्यथा नही।

शीलवान् बनने के लिए सर्वप्रथम हेय, ज्ञेय और उपादेय वस्तु का विवेक करने की आवश्यकता है। हेय, ज्ञेय तथा उपादेय वस्तु का विवेक करके शील का जितना पालन हो सके, उतना पालन निष्कपटभाव से करना चाहिये।

संसार का कोई भी बल चारित्र-बल का मुकाबिला नहीं कर सकता। लोग धन-जन आदि के बल को बल मानते हैं. मगर शास्त्र का कथन है कि चारित्रबल की तुलना कोई भी बल नहीं कर सकता। चारित्रबल हो तो दूसरे बल स्वतः आ जाते हैं और चारित्रबल के अभाव मे दूसरे बल निर्बल हो जाते है। राम के पास चारित्रबल को छोड़कर और क्या था? लेकिन चारित्रबल की बदौलत सभी बल उनके पास आ जुटे। इसके विरुद्ध रावण के पास

धनबल, सत्ताबल, सेनाबल आदि अनेक प्रकार के बल मौजूद थे, सिर्फ चारित्रबल उसके पास नहीं था। इसी कारण उसके सब बल निर्बल और निष्फल सिद्ध हुए। इस प्रकार चारित्रबल की मौजूदगी में सभी बल आ जाते हैं और चारित्रबल के अभाव में सभी बल निष्फल हो जाते हैं। अतएव सिद्ध है कि चारित्रबल सभी बलों में महान् है। आज लोग दुःखी होकर दर-दर भटकते हैं। इसका प्रधान कारण चारित्रबल का अभाव है। चारित्रबल से ही आत्मा का अक्षय कल्याण होता है।



...सठ, त्रेसठ, चौसठ, पैंसठ, छांसठवाँ बोल ।

इन्द्रिय-निग्रह

ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रश्नोत्तर मे भगवान ने उत्तर देते हुए कहा है कि चारित्र की उत्कृष्टता से जीवात्मा को शैलेशी-अवस्था प्राप्त होती है। इसके बाद वह मुक्त हो जाता है। संवर ही चारित्र है। संवर का स्वरूप बतलाते हुए शास्त्र मे कहा है—इन्द्रियो का निग्रह करना ही संवर है। मगर इन्द्रियनिग्रह क्या है और उससे जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय मे अब प्रश्न किया जाता है।

प्रत्येक कार्य का फल तो मिलता ही है और फल जानने के बाद ही कार्य में शीघ्र प्रवृत्ति होती है। फल दो प्रकार का है—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक फल की इच्छा करना उचित नहीं है। लोकोत्तर फल तो धर्म के साथ ही होता है और उसे जान लेने के बाद धर्मकार्य मे प्रवृत्ति हो सकती है।

आत्मदमन करने के लिए इन्द्रियो का निग्रह करना आवश्यक है। इन्द्रियों का निग्रह किये विना आत्मविजय प्राप्त नही की जा सकती। आत्मा का कल्याण करने के लिए श्रोत्रेन्द्रिय आदि का

निग्रह करना आवश्यक है। इसलिए श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षु-इन्द्रिय आदि इन्द्रियों का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस सम्बन्ध में गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं :—

मूलपाठ

प्रश्न—सोइंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—सोइंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६२॥

प्र०—चक्खिन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—चक्खिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रूवेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६३॥

प्र०—घाणिन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—घाणिन्दियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु गंधेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६४॥

प्र०—जिब्भिन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—जिब्भिन्दियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु रसेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६५॥

प्र०—फासिन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—फासिन्दियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु फासेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६६॥

शब्दार्थ

प्र०—भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उ०—गौतम ! श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से मनोज्ञ या अमनोज्ञ (सुन्दर या असुन्दर) शब्दों में राग द्वेष रहित प्रवृत्ति होती है और इससे राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मों का बंध नहीं होता और पहले बँधे हुए कर्मों का क्षय होता है।

प्र०—भगवन् ! चक्षु-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उ०—चक्षु-इन्द्रिय का निग्रह करने से सुन्दर-असुन्दर रूपों (दृश्यों) में राग-द्वेषरहित प्रवृत्ति होती है और इससे राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मों का बंध नहीं होता और पहले बँधे हुए कर्मों का क्षय होता है।

प्र०—भगवन् ! घ्राणेन्द्रिय (नाक) का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उ०—घ्राणेन्द्रिय का निग्रह करने से जीव सुगन्ध और दुर्गन्ध में राग-द्वेष रहित हो जाता है और इससे राग-द्वेष के कारण

उत्पन्न होने वाले कर्मों का बंध नहीं होता और पहले बँधे हुए कर्मों का क्षय होता है।

प्र०—भगवन्! जीभ का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उ०—जीभ का निग्रह करने से स्वादिष्ट-अस्वादिष्ट रसों मे जीव राग द्वेष रहित हो जाता है और इससे राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मों का बंध नही होता और पहले बँधे हुए कर्मों का क्षय करता है।

प्र०—भगवन्! स्पर्शन-इन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या लाभ होता है?

उ०—स्पर्शन-इन्द्रिय के निग्रह से जीव सुन्दर-असुन्दर स्पर्शों मे राग-द्वेष से रहित हो जाता है और राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मों का बंध नहीं करता और पहले बँधे हुए कर्मों का क्षय करता है।

व्याख्यान

इन्द्रियों के निग्रह करने का अर्थ यह नहीं है कि उन्हे नष्ट कर दिया जाय। इन्द्रिय-निग्रह का अर्थ है इन्द्रियों पर काबू पाना-उन्हे अपने वश मे रखना। स्वयं इन्द्रियों के वश मे न हो जाना इन्द्रिय-निग्रह है। जैसे घुड़सवार घोड़े को अपने काबू में रखता है, वह घोड़े के वश मे नहीं हो जाता, उसी प्रकार इन्द्रियों को अपने वश में रखना ही इन्द्रियनिग्रह है। सवार घोड़े को अपने काबू मे नहीं रक्खेगा तो नतीजा यह होगा कि वह नीचे पड़ जाएगा। इसी प्रकार इन्द्रियों पर काबू न पाने का परिणाम है—आत्मा का पतन। इन्द्रियों का निग्रह करने से आत्मा का उद्धार होता है और निग्रह न करने से पतन अवश्यम्भावी है।

इन्द्रियो का निग्रह करने और न करने में क्या अन्तर है और क्या हानि-लाभ है, यह बतलाते हुये एक संस्कृत के कवि ने कहा है :—

विभेषि यदि संसारान्मोक्षप्राप्तिं च कांक्षसि ।
तदेन्द्रियजयं कर्त्तुं स्फोरय स्फारपौरुषम् ॥
आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।
तज्जयः सम्पदां मार्गो, येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥
इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ ।
निगृहीतानि सृष्टाणि स्वर्गाय नरकाय च ॥

अर्थात्—अगर तू इस संसार से डरता हो और मोक्ष प्राप्त करना चाहता हो तो इन्द्रियों का निग्रह करने का प्रयत्न कर। इन्द्रियो को वश में न करना आपदा का मार्ग है और उन्हे वश मे करना सपदा का मार्ग है। इन दोनो में से तुझे जो मार्ग रुचिकर हो, उसी पर तू चल। स्वर्ग और नरक भी इन्द्रियों में ही हैं। इद्रियों के निग्रह से स्वर्ग मिलता है और निग्रह न करने से नरक मिलता है। इन दोनों में तुझे जो पसन्द हो, उसे पाने का प्रयत्न कर।

इन्द्रियो का निग्रह करने के लिए तो सभी कहते हैं, विकट प्रश्न तो यह है कि इन्द्रियों का निग्रह किया किस प्रकार जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पदार्थों के असली स्वरूप का विचार करके उन्हें निस्सार समझना चाहिये और उन निस्सार पदार्थों से विरक्त होकर, इन्द्रियों को उनकी ओर जाने नहीं देना चाहिए। साथ ही, जिन कामों से आत्मा का कल्याण होता हो उन्हीं कामों में आत्मा को प्रवृत्त करना चाहिए। इन्द्रियो को वश मे करने का यही उपाय है।

शास्त्र का कथन है कि कान, आँख आदि इन्द्रियाँ स्वर्ग भी दिलाती हैं और नरक भी दिलाती है। चारित्र को भ्रष्ट करने वाली बातें कान से सुनना नरक प्राप्ति का मार्ग है और आत्मकल्याण करने वाली बातें सुनना स्वर्ग-प्राप्ति का रास्ता है। संक्षेप में, आशय यह है कि इन्द्रियों को बुरे कामों में प्रवृत्त न करके भले कामों में प्रवृत्त करना ही इन्द्रियनिग्रह का उपाय है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि बुरा काम किसे कहना चाहिए और भला काम किसे कहना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस कार्य को करने के लिए तुम्हारे अन्तःकरण मे विषम भाव उत्पन्न हो वह बुरा काम है और जिसे करने के लिए समभाव उत्पन्न हो वह भला (प्रशस्त) काम है। अगर तुम्हारा आत्मा इन्द्रियो का दास न होगा तो वह स्वयं ही बुरे भले काम की परीक्षा कर लेगा। अगर तुम्हारी सत्-असत् का विवेक करने की शक्ति का विकास न हुआ हो तो ज्ञानी जनो की शिक्षा के अनुसार बुरे कामो से हटकर भले कामो मे लगना चाहिए। यो करते-करते एक न एक दिन तुम्हारा आत्मा इन्द्रियो पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त कर सकेगा।

इन्द्रियों का निग्रह करने के लिए सबसे पहले यह देखो कि चीजे महँगी है या इन्द्रियाँ महँगी हैं? तुम्हारे कान महँगे हैं या मोती महँगे हैं? कहने को तो कह दोगे कि मोती की बनिस्बत कान महँगे है, परन्तु मोती गुम जाने पर उसके लिए जितनी चिन्ता करते हो, उतनी चिन्ता क्या उस वक्त भी करते हो जब कान बुरी बातें सुनने को तैयार होता है? साधारण तौर पर कान से अच्छे और बुरे शब्द सुनाई देते है। कहने का आशय यह नहीं है कि कान का निग्रह करने के लिए कान को नष्ट कर डालो या कानों में फोहा लगा लो! परन्तु खराब बातो की तरफ कान को जाने मत दो।

फिर भी अगर खराब शब्द कान मे आ पड़े तो उन पर ध्यान मत दो, जैसे कि माता-पिता की निन्दा के शब्दो पर ध्यान नहीं दिया जाता है ! कान मे जो शब्द पड़े, उनके कारण आत्मा मे राग द्वेष उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। शब्द के कारण राग द्वेष न उत्पन्न होने देना ही श्रोत्र विजय प्राप्त करने का मार्ग है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के मनोज्ञ (पसन्द) और अमनोज्ञ (नापसन्द) विषय प्राप्त करके उन पर राग-द्वेष न होने देना ही इन्द्रियनिग्रह का मार्ग है। आँख से माता भी देखी जाती है, बहिन भी देखी जाती है और दूसरी स्त्री भी देखी जाती है। सबको देखने वाली आँख एक ही है, पर दृष्टि में अन्तर होता है। इसी अन्तर के कारण राग द्वेष की उत्पत्ति होती है। अतः यह अन्तर न रखते हुए अपनी पत्नी के अतिरिक्त समस्त स्त्रियो को माता या बहिन के समान मानने से आँख का निग्रह हो सकेगा। आँख का निग्रह हो जाने से राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होगा।

इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय आदि का भी निग्रह करना चाहिए। सारांश यह है कि पसंद या नापसद-कोई भी वस्तु सूँघने से, चखने से या छूने से आ जाय तो इन्द्रियों को इस प्रकार प्रवृत्त न किया जाय कि इन परिवर्त्तनशील पदार्थों मे राग द्वेष उत्पन्न हो। यह विचार करना चाहिए कि वस्तु तो अच्छी से बुरी और बुरी से अच्छी होती ही रहती है। इसमें मैं राग-द्वेष क्यों करूँ ? इस प्रकार विचार करने से इन्द्रियविजय प्राप्त होती है। पदार्थ किस प्रकार परिवर्त्तनशील है, यह बात एक शास्त्रप्रसिद्ध उदाहरण द्वारा समझाता हूँ :—

जितशत्रु नामक एक राजा था। उसके प्रधान का नाम सुबुद्धि था। सुबुद्धि बड़ा विचारशील था। एक दिन सुबुद्धि राजा

के साथ भोजन करने बैठा था। भोजन स्वादिष्ट था। राजा ने प्रधान से कहा—'देखो, कितना स्वादिष्ठ भोजन है!' राजा के इस कथन के उत्तर में सुबुद्धि ने कहा—'इसमें क्या है? इष्ट से अनिष्ट हो जाना और अनिष्ट से इष्ट हो जाना तो वस्तुओं का स्वभाव ही है।' राजा ने कहा—'प्रधान, तुम तो नास्तिक जान पड़ते हो। क्या यह भी कभी सम्भव है कि अच्छी वस्तु बुरी और बुरी वस्तु अच्छी बन जाए!'

राजा अपने दूसरे कर्मचारियों से इस सम्बन्ध में बात करता तो वे सब राजा की ही बात का समर्थन करते थे। मगर सुबुद्धि तो यही कहता कि तुम लोग चाहो सो कहो। मेरे गुरु ने तो मुझे यही सिखलाया है और मैं यही मानता हूँ कि इष्ट का अनिष्ट और अनिष्ट का इष्ट हो जाना ही पुद्गल का स्वभाव है। पुद्गल का स्वभाव नष्ट हो जाना है, अतएव वस्तु का इष्ट-अनिष्ट हो जाना स्वाभाविक है।

राजा ने प्रधान को बहुत समझाने की कोशिश की पर प्रधान ने अपनी बात नहीं बदली। प्रधान को अपनी बात पर पूरा भरोसा था। उसने राजा से कहा—जिस बात को मैं सत्य मानता हूँ, उस सत्य को मैं असत्य कैसे कह सकता हूँ? राजा ने समझ लिया कि प्रधान इस समय हठ पकड़ कर बैठा है। अब इस बात को जाने दिया जाय!

एक दिन राजा नगर-निरीक्षण करने निकला। प्रधान साथ ही था। नगर के चहुँ ओर खाई थी। पानी भर जाने के कारण खाई में से बदबू निकल रही थी। राजा और प्रधान उसी खाई के पास से निकले। खाई से निकलने वाली दुर्गन्ध असह्य थी। राजा

ने प्रधान से कहा—प्रधान, देखो, इस खाई का पानी कितना बदबूदार है ? इतना कहकर राजा ने अपनी नाक दबा ली। उस समय भी प्रधान ने यही उत्तर दिया—'महाराज ! इष्ट से अनिष्ट और अनिष्ट से इष्ट हो जाना तो वस्तु का स्वभाव ही है।' प्रधान का उत्तर सुनकर राजा ने कहा—'प्रधान, तुम बहुत हठी हो। क्या सब चीजें ऐसी हो सकती है ?' प्रधान बोला—महाराज, मै हठ नहीं करता, वस्तु का सच्चा स्वरूप कह रहा हूँ। आप कुछ भी फरमावे, मुझे तो आपके प्रति भी समभाव रखना है और वस्तु के प्रति भी समभाव रखना है।

घर पहुँचकर प्रधान ने विचार किया—वस्तु स्वरूप के सम्बन्ध में राजा के साथ मेरा मतभेद बढ़ता चला जा रहा है। मुझे किसी प्रकार राजा को अपनी बात की खातिरी करा देना चाहिए कि मैं जो कुछ कहता हूँ वह सत्य है—असत्य नहीं। इस प्रकार विचार कर उसने अपना एक विश्वस्त आदमी भेजकर, खाई का बदबूदार पानी एक घड़ा भरवाकर मँगवाया। प्रधान ने उस पानी को अपने ४६ प्रयोगों द्वारा परिष्कृत किया। तत्पश्चात् उसने वह पानी राजा के पानी भरने वाले को दिया और कहा—'महाराज जब भोजन करने बैठें तो पीने के लिए यह पानी रख देना।

राजा जब भोजन करने बैठा तो उस आदमी ने वही पानी पीने के लिए रख दिया। पानी पीकर राजा ने कहा—अरे, यह पानी तो बहुत मीठा है। यह कहाँ से भर लाया है ? आदमी ने उत्तर दिया—'यह पानी प्रधानजी ने भेजा है।' राजा ने प्रधान को उसी समय बुलवाकर कहा—'तुम इतना मीठा पानी पीते हो और मेरे लिए आज यह भिजवाया है !' प्रधान ने कहा—'इस पानी में ऐसा

क्या है ? यह तो वस्तु का स्वभाव ही है कि वह अनिष्ट से इष्ट और इष्ट से अनिष्ट हो जाती है।

राजा ने कहा—फिर वही बात करने लगे ?

प्रधान—मैं जो कहता हूँ, ठीक कहता हूँ। यह पानी उसी खाई का पानी है, जिसकी बदबू के मारे आपने नाक दबा लिया था।

राजा—वह बदबू वाला इतना मीठा कैसे बन सकता है !

प्रधान—महाराज ! मैं प्रयोग द्वारा आपके सामने भी उस पानी को ऐसा मीठा बना सकता हूँ।

आखिर राजा ने खाई का दुर्गन्ध वाला पानी मँगवाया। प्रधान से उसे शुद्ध और सुगन्धित बनाने के लिए कहा। प्रधान ने पहले की तरह उस पानी को परिष्कृत कर दिया। इस घटना से राजा को विश्वास हो गया कि वस्तु मे परिवर्त्तन हो सकता है। राजा ने प्रधान के सिद्धान्त को स्वीकार करके कहा—प्रधानजी ! आप धर्मज्ञ और विचारशील हैं। अत. मुझे केवली-प्ररूपित धर्म सुनाइए। सुबुद्धि प्रधान श्रावक था और धर्मतत्त्व का ज्ञाता था। उसने राजा को धर्मतत्त्व समझाया। श्रावक को धर्म समझाने का अधिकार है, मगर जब वह स्वयं ज्ञाता हो तभी दूसरों को समझा सकता है ! सुबुद्धि प्रधान से धर्मतत्त्व समझकर राजा बारह व्रतधारी श्रावक बना। धीरे-धीरे उसने आत्मकल्याण किया।

कहने का आशय यह है कि धर्म का ज्ञाता व्यक्ति तो यही मानता है कि इष्ट से अनिष्ट और अनिष्ट से इष्ट होना ही वस्तु का स्वरूप है। इस प्रकार वस्तु का स्वरूप समझ लेने पर मनुष्य इष्ट वस्तु पर राग और अनिष्ट वस्तु पर द्वेष धारण नहीं करता।

वह समभाव ही रखता है। वह भलीभाँति जानता है कि जो वस्तु थोड़ी देर के लिए इष्ट प्रतीत होती है और फिर अनिष्ट मालूम होने लगती है उसके खातिर मै अपने आत्मा में राग-द्वेष क्यो उत्पन्न होने दूं ? वस्तु आत्मा का उत्थान भी करती है और पतन भी करती है। वस्तु के निमित्त से जब आत्मा मे राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है तो ऐसी अवस्था में आत्मा का पतन होता है और समभाव उत्पन्न होने से आत्मा का उत्थान होता है। जिस वस्तु के निमित्त से आत्मा का उत्थान हो सकता है, उसे आत्मपतन का कारण क्यों बनाया जाय ?

इस प्रकार विचार कर इन्द्रियों का निग्रह करने वाला व्यक्ति अवश्य ही आत्मकल्याण का भागी होता है।

सभी शास्त्रकार और सभी धर्मावलम्बी इन्द्रियों के निग्रह की बात कहते हैं। इस विषय मे प्राय. किसी का मतभेद नहीं है। सभी लोगों का कथन है कि इन्द्रियों का निग्रह करने से आत्मा का कल्याण हो सकता है। गीता में भी कहा है—हे अर्जुन ! तुझे आत्मा का कल्याण करना हो तो सबसे पहले इन्द्रियों का निग्रह कर। इन्द्रियनिग्रह से आत्मा का उत्थान होता है और इन्द्रियो के अधीन बनने से आत्मा का पतन होता है। अतएव इन्द्रियो को वश में रक्खो। उन्हें पदार्थों के प्रलोभन में मत जाने दो। पर्वत पर से एक ही पैर फिसल जाय तो कौन कह सकता है कि कितना पतन होगा ? इसी प्रकार एक भी इन्द्रिय अगर काबू से बाहर हो गई तो कौन कह सकता है कि आत्मा का कितना पतन होगा ! इसलिए अगर तुम अपने आत्मा को सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा शान्त करके दुःखमुक्त करना चाहते हो तो सर्वप्रथम इन्द्रियो का निग्रह करो। इन्द्रियनिग्रह ही आत्मविजय का अमोघ साधन है।

सड़सठवाँ बोल ।

क्रोधविजय

पिछले बोल मे इन्द्रिय-निग्रह के सम्बन्ध मे विवेचन किया गया है। इन्द्रियों का निग्रह करने से राग और द्वेष जीते जा सकते हैं और इसी कारण लोग इन्द्रियों को जीतने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न करते है। इन्द्रियनिग्रह से जीते जाने वाले राग और द्वेष, क्रोध, मान, माया और लोभ से उत्पन्न होते है। इसलिए अब गौतमस्वामी यह प्रश्न करते हैं कि क्रोध आदि कषाय किस प्रकार जीते जा सकते हैं और उनके जीतने से आत्मा को क्या लाभ होता है ?

मूलपाठ

प्रश्न—कोहविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—कोहविजएणं खंतिं जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६७॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! क्रोध को जीतने से आत्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गौतम ! क्रोध को जीतने से जीव क्षमा गुण प्राप्त करता है, क्रोध से उत्पन्न होने वाले कर्मों का बंध नहीं करता और पहले बँधे हुए कर्मों का क्षय करता है।

व्याख्यान

भगवान् ने क्रोध को जीतने से क्षमा गुण का प्रकट होना कहा है। नाम से तो क्षमा को सभी लोग जानते हैं मगर वास्तविक क्षमा कैसी होती है, यह बहुत कम लोगों को मालूम है। क्रोध की उत्पत्ति के कारण और क्रोध को चरितार्थ करने की शक्ति मौजूद होने पर भी क्रोध न पैदा होने देना ही असली क्षमा है।

क्षमा धारण करना तलवार की धार पर चलने के समान कठिन काम है। कभी-कभी शस्त्र का आघात सहन कर लेना सरल होता है, परन्तु वचन का आघात शस्त्र के आघात की अपेक्षा अधिक दुःखदायक होता है। इसी कारण कटुक वचन सुनकर क्षमाशील रहना मुश्किल हो जाता है। शास्त्रकार कहते हैं—लोहे के तीखे बाण सह लेना सरल है, पर वचन-बाण सहना कठिन है। शास्त्र में कहा है :—

मुहुत्तदुक्खा हु हवंति कंटया, अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि, वेराणुबंधाणि महब्भयाणि॥

दस०, ९-३-७

अर्थात्—लोहे के कांटों को सह लेना, उन्हें निकालकर बाहर फैंक देना तथा उनकी पीड़ा से मुक्त हो जाना इतना ज्यादा कठिन नहीं है, मगर वचन-बाण का आघात महाभयानक, दुःख-दायक तथा वैर का अनुबंध कराने वाला होने के कारण सहन करना कठिन है।

तात्पर्य यह है कि कटुक वचन सुनकर क्रोध आना स्वाभाविक है। क्रोध आने पर क्षमा धारण करने वाले बहुत थोड़े होते हैं। क्रोध का परिणाम कितना बुरा होता है, इस सम्बन्ध में शास्त्र में कहा है :—

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो॥

—दस०, ८-३७

इस गाथा में शास्त्रकार ने कहा है कि जब क्रोध उत्पन्न होता है तो प्रीति नष्ट हो जाती है और अनुकम्पा का भी नाश हो जाता है। इस प्रीतिनाशक क्रोध को क्षमा के द्वारा ही जीतना चाहिए। क्रोध को जीत लेने से क्षमा प्रकट होती है और क्षमा के होने पर क्रोध जीता जा सकता है। इस प्रकार क्रोधविजय और क्षमा में अन्योन्य सम्बन्ध है।

जब कोई कटुक वचन कहता है तभी क्रोध और क्षमा की परीक्षा होती है। कहा भी है :—

जी जी कर बतलावतां, काने क्रोध न आय।
आड़ा टेढ़ा बोलतां, खबर क्षमा की थाय॥

अर्थात्—जब कोई नम्रतापूर्वक बोल रहा हो तो सामने वाले को क्रोध उत्पन्न ही कैसे होगा ? यह क्रोधी है या क्षमावान् है, इस बात की परीक्षा तो तभी होती है जब उससे आड़े-टेढ़े वचन बोले जाएँ।

तुम लोग हमारे साथ भक्तिपूर्वक बातचीत करते हो और हमारे प्रति नम्रता का व्यवहार रखते हो। ऐसी दशा में हमें क्रोध क्यों उत्पन्न होगा ? हाँ, कहीं बाहर जाने पर हमें कटुक वचन सुनने पड़ें और उस वक्त भी हम क्रोध न करें, वरन् क्षमा रक्खें, तभी कहा जा सकता है कि हमने क्रोध पर विजय पा ली है।

जब क्रोध उत्पन्न हो तब ऐसा विचार करना चाहिए कि यह कटुक वचन इस बात की कसौटी हैं कि हमारे अन्तःकरण में क्षमा है या नहीं ? कसौटी पर चढ़ाने से ही खरे सोने का पता चलता है। इसी प्रकार कटुक वचन की कसौटी पर ही क्षमा की परीक्षा होती है।

क्रोध करने से कितनी अधिक हानियाँ होती हैं, इस विषय में कहा है :—

कोहो अप्पीइकरो उव्वेयकरो य सगइनिद्दलणो।
वेरणुबंधजलणो जलणो वरगुणगण-वणस्स ॥
कोहंधा निहणंति पुत्तं मित्तं गुरुं कलत्तं च।
जणयं जणणिं अप्पिं पि निग्घणा किं च न कुणंति ॥
कोहग्गी पज्जलिओ न केवलं दहइ अप्पणो देहं।
सत्ताविईय परपिहु पहवइ परभवविणासाय।
ता कोहमहाजलणो विज्झवियव्वो खमाजलेण सया ॥

यहाँ कहा गया है कि क्रोध अप्रीति उत्पन्न करता है, उद्वेग पैदा करता है और सद्गति का नाश करता है। क्रोध वैरानुबंध का बाप है और सद्गुणों के समूह रूपी वन को भस्म कर देता है। क्रोधाग्नि दूसरों को ही नहीं जलाती किन्तु क्रोधी को भी अवश्य जलाती है। क्रोध यह भव भी बिगाड़ देता है और पर भव भी बिगाड देता है। अतः इस क्रोधाग्नि को क्षमा के जल से सदा बुझाना चाहिए।

क्रोध अग्नि से भी अधिक भयानक है। अग्नि एक ही भव का नाश करती है मगर क्रोध इह-पर भव दोनो का विनाशक है। अर्थात् दोनों भवों को बिगाड़ता है। क्रोध की यह आग आत्मा में ही उत्पन्न होती है। अपना आत्मा स्वतः क्रोध को पैदा करता है। क्रोध से क्रोध बढ़ता ही जाता है, इस कारण अनेक भवों का वैरानुबंध क्रोध से ही होता है। जब प्रीति का नाश हो तो समझना चाहिए कि मुझमें क्रोध उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार उद्वेग होने पर भी यही समझना चाहिए कि मुझमें क्रोध पैदा हुआ है, क्योंकि अप्रीति या उद्वेग उत्पन्न होने का कारण क्रोध ही है। क्रोध ही दुर्गति में ले जाता है। जैसे अग्नि थोड़े ही समय में रुई के ढेर को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार क्रोध भी आत्मा के समस्त शुभ गुणों को भस्म कर देता है। क्रोध उत्पन्न होने पर मनुष्य आँखे होते हुए भी अंधा बन जाता है। तब वह क्रोधांध मनुष्य अपने पुत्र, मित्र, गुरु तथा स्त्री आदि स्वजनों को भी नष्ट कर देता है। उस समय क्रोधांध मनुष्य में से दयाभाव निकल जाता है।

सुना है, मेवाड़ के एक गाँव में किसी मनुष्य ने क्रोध के आवेश में आकर पसेरी से अपनी स्त्री का सिर फोड़ डाला था। यह देखकर उसकी लडकी चिल्लाई—'मेरे पिता मेरी माँ को मार रहे

है !" लड़की की चिल्लाहट सुनकर वह अपनी लड़की पर भी क्रुध हो गया। उसने लड़की को पत्थर पर पछाड़ दिया और अन्त में आप भी अपघात करके मर गया।

क्रोध के आवेश मे ऐसे-ऐसे न जाने कितने अनर्थ होते रहते हैं ! अतएव क्षमा द्वारा क्रोध को जीतना चाहिए। सूत्र मे भी कहा है :—

उवसमेण हणे कोहं।

अर्थात्—उपशम-क्षमा से क्रोध का नाश करना चाहिए।

जब अग्नि बढ़ती जा रही हो तो उसे बुझाने के लिए उसके विरोधी पदार्थ—पानी का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार क्रोध को उपशान्त करने के लिए क्षमा का ही अधिक से अधिक उपयोग करना चाहिये। क्रोध करने से दूसरो को जो हानि होती है उसकी अपेक्षा स्वयं क्रोध करने वाले को अधिक हानि उठानी पड़ती है। क्रोधी मनुष्य क्रोध करते समय समझता है कि मैं दूसरे की हानि कर रहा हूँ, परन्तु यह मान्यता पड़ौसी का घर जलाने के लिए अपने घर मे आग लगाने के समान मूर्खतापूर्ण है। अपने घर में आग लगाने से पड़ौसी का घर जल भी सकता है और नही भी जल सकता, किन्तु अपना घर तो जल ही जाता है। इसी प्रकार क्रोध करने से दूसरो की हानि हो या न हो, मगर क्रोध करने वाले की हानि तो हो ही जाती है।

स्व० केसरीचन्दजी भंडारी ने मुझे अंगरेजी की एक पुस्तक दिखाई थी। उस पुस्तक मे यह बतलाया गया था कि क्रोध उत्पन्न होने पर शरीर से बर्छी, कटार, छुरी आदि शस्त्रों सरीखे पुद्गल निकलते हैं। जिस मनुष्य पर क्रोध किया जाता है उसे अगर क्रोध

न आवे अर्थात् उसमे क्षमाभाव हो तो वे शस्त्र सरीखे पुद्गल शान्त हो जाते हैं। अगर सामने वाले में भी क्रोध उत्पन्न हुआ तो उस दशा में दोनों के वे शस्त्र सरीखे पुद्गल आपस में टकराते हैं और फलस्वरूप संग्राम मच जाता है। शास्त्र में कहा है कि कषायसमुद्-घात से भयङ्कर संग्राम हो जाता है। क्रोध हो तो संग्राम होता ही है। इसीलिए शास्त्रकार ऊँचे स्वर मे कहते हैं—क्षमा के द्वारा क्रोध को जीतो। अगर तुम्हारे भीतर क्षमाभाव होगा तो दूसरे का क्रोध आप ही शान्त हो जाएगा। परन्तु लोग थप्पड़ का जवाब घूंसे से और गाली का उत्तर गाली से देना चाहते हैं। नतीजा यह होता है कि रगड़े-झगडे बढ़ते हैं। शास्त्रों मे और ग्रन्थो में कहा है कि वैर से वैर बढ़ता है और क्रोध करने से क्रोध अधिक-अधिक बढता जाता है। अतएव क्रोध का जवाब क्रोध से न देकर और गाली का बदला गाली से न लेकर क्षमा द्वारा क्रोध को जीतना चाहिए। इसी में आत्मा का कल्याण है। कहा भी है :—

दीधा गाली एक है, पलटे होय अनेक।
जो गाली पलटै नहीं, रहे एक की एक॥

अर्थात्—किसी ने किसी को गाली दी और गाली खाने वाला अगर बदले मे गाली नहीं देता है तो वह गाली एक की एक ही रह जायगी और गाली देने वाला आखिर शान्त हो जाएगा। इससे विपरीत, अगर गाली का बदला गाली से दिया गया तो गालियों की परम्परा बढ़ती ही जाएगी और झगड़ा हुए बिना नहीं रहेगा। अतः क्रोध उत्पन्न होने पर उसे क्षमा से जीतना उचित है। शास्त्र में साधु के लिए तो यहाँ तक कहा है कि—हे साधु! अगर किसी के साथ तुम्हारा क्लेश हुआ है तो जब तक तुम उसे उपशांत नहीं कर लेते, तब तक तुम आहार-पानी लेने के लिए नहीं जा

सकते। क्रोध को उपशान्त किये विना तुम लाये हुए आहार-पानी का उपभोग नहीं कर सकते, विहार नहीं कर सकते, यहाँ तक कि शौच के लिए भी नहीं जा सकते। कदाचित् तुम कहोगे कि जिसके साथ क्लेश हुआ है, उसे खमाकर मैं उपशान्ति करता हूँ लेकिन सामने वाला शान्त नहीं होता तो मैं क्या करूँ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र कहता है—सामने वाला उपशान्त हो या न हो, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है, किन्तु तुम तो क्षमा का याचन-प्रदान करके उपशान्त बनो! इससे तुम आराधक ही रहोगे।

क्रोध को जीतने का सरल उपाय क्षमा ही है। दस प्रकार के यतिधर्म में भी क्षमा को ही सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। कारण यह है कि जैसे समस्त पदार्थों के लिए पृथ्वी ही आधार है, उसी प्रकार क्षमा ही समस्त गुणों का आधार है! आधारभूत पृथ्वी ही स्थिर न रहे तो आधेय पदार्थ किस प्रकार स्थिर रह सकेंगे? इसी प्रकार सब गुणों का आधार क्षमा ही न रही तो दूसरे गुण किस प्रकार टिक सकेंगे? अतएव क्षमा की सर्वप्रथम आवश्यकता है। साधुओं का वर्णन करते हुए कहा है:—

पहेलुँ लक्षण साधुनुँ, क्षमा तणो भंडार।
कठिन वचन सहे जगतनां, क्रोध न करे लिगार॥

तुम लोग प्रतिक्रमण में 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ बोलते हो, कि—'हे क्षमाश्रमण! मैं तुम्हें वन्दन करता हूँ।' साधुओं में क्षमा के साथ और-और गुण भी होते है, मगर क्षमागुण की प्रधानता के कारण ही उन्हे 'क्षमाश्रमण' कहते है। साधु का प्रधान

गुण क्षमा ही है और इसी कारण दश प्रकार के यतिधर्म में क्षमा को पहला स्थान दिया गया है।

जैसे साधुओं के लिए क्षमा की अनिवार्य आवश्यकता बतलाई जाती है उसी प्रकार श्रावकों के लिए भी क्षमा धारण करने की अनिवार्य आवश्यकता है। साधु को लक्ष्य करके चतुर्विध संघ को क्षमा धारण करने की बात कही गई है। अतएव जो पुरुष क्रोध के वश न होकर क्षमाशील रहेगा, वही अपना कल्याण कर सकेगा।

७२

अड़सठवाँ बोल

मानविजय

मानव-जीवन को सफल तथा सार्थक करने के लिए शास्त्रकारों ने चार कषायो का त्याग करना आवश्यक बतलाया है। कषाय का सामान्य अर्थ है—संसार। मतलब यह है कि क्रोध, मान, माया और लोभ—यह चार कषाय संसार की वृद्धि करते है। संसार से मुक्त होने के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है। कषायो का त्याग न करने से संसार की वृद्धि होती रहती है। शास्त्र में कहा भी है :—

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोहो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

—दश० ८, ४०

अर्थात्—क्रोध तथा मान का निग्रह करना कठिन है और माया तथा लोभ दिन-प्रतिदिन बढ़ते ही जाते है। संक्षेप में, यह चारों कषाय संसार के मूल का सिंचन करते रहते हैं।

मुमुक्षु जीवों को संसार की असारता जानकर चारों कषायों का त्याग करना चाहिए। चारों कषायों को जीतने का उपाय शास्त्रकारों ने यह बतलाया है :—

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण, लोहं संतोसओ जिणे॥

—दश० ८, ३९

अर्थात्—क्रोध को क्षमा द्वारा जीतना चाहिए, मान को मृदुता-नम्रता से जीतना चाहिए, माया को सरलता से जीतना चाहिए और लोभ को सन्तोष से जीतना चाहिए।

क्रोध को जीतने से जीवात्मा को क्षमागुण की प्राप्ति होती है, क्रोध से उत्पन्न होने वाले नवीन कर्मों का बंध नहीं होता और पूर्व कर्मों की निर्जरा होती है। क्रोध को जीतने से आत्मा को यह अपूर्व लाभ होता है। अब गौतम स्वामी यह प्रश्न करते हैं कि मान किस प्रकार जीता जा सकता है और उसे जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

मूलपाठ

प्रश्न—माणविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—माणविजएणं मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६८॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! मान को जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—मान को जीतने से आत्मा में मृदुता का अपूर्व गुण प्रकट होता है, मानजन्य कर्म का बंध नहीं करता और पहले बँधे कर्म का क्षय करता है।

व्याख्यान

मृदुता एक महान् गुण है। शास्त्र में कहा है कि मान पर विजय प्राप्त करने से ही मृदुता का महान् गुण प्रकट हो सकता है। जिसमें नम्रता होती है, वह व्यक्ति महान् समझा जाता है। धातुओं में सोना इस कारण कीमती माना जाता है कि उसमें नम्रता होती है। सोने को जितना ज्यादा पीटा जाता है, वह उतना ही नम्र बनता जाता है और जब वह एकदम निर्मल और नम्र हो जाता है तब वह कुन्दन कहलाता है। रत्न को ग्रहण करने की शक्ति कुन्दन में ही होती है। इसीलिए पहले के लोग रत्न को सोने में जड़ने के लिए कुन्दन का उपयोग करते थे। जिस प्रकार नम्र बनाया हुआ सोना, रत्न को पकड़ लेता है, उसी प्रकार गुणरूपी रत्न को वही ग्रहण कर सकता है, जिसमें नम्रता हो। नम्रता प्राप्त करने के लिए मान को जीतने की आवश्यकता है। मान को जीतने से ही नम्रता आती है और जब नम्रता आती है तब मान-जन्य नवीन कर्मों का बंध नहीं होता और मान के कारण पहले बँधे हुए कर्मों की भी निर्जरा होती है।

शंका की जा सकती है कि मानजन्य बँधे हुए कर्म तो भोगने ही पड़ते है ? इसका समाधान यह है कि अगर मान के

कारण पहले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा न हो सकती तो शास्त्र में ऐसा न कहा गया होता कि मान को जीतने से पहले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है।

यहाँ यह भी पूछा जा सकता है कि शास्त्र में एक जगह ऐसा कहा है कि 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' अर्थात् किये कर्मों को भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं मिलता। इससे विपरीत यहाँ यह कहा गया है कि मान को जीतने से पहले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है। इन दोनों कथनों मे परस्पर विरोध जान पड़ता है। इसकी संगति किस प्रकार बिठलाई जा सकती है? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है :—

कर्म भोगने तो पड़ते है, परन्तु उनके भोगने के मुख्य दो तरीके हैं। पहला तरीका यह है कि कर्मों को तपस्या आदि के द्वारा उदीरणा करके भोगा जाय और दूसरा तरीका यह है कि कर्म अपना अबाधा काल समाप्त होने पर स्वाभाविक रीति से उदय में आवें और तब भोगे जाएँ। उदाहरणार्थ—रोगी को रोग का दुःख तो सहन करना ही पड़ता है, परन्तु दवा का उपयोग करने से रोग की तीव्रता कम हो जाती है और साथ ही रोग जल्दी और सरलता से भोग लिया जाता है। इसी प्रकार कर्म भोगने तो पड़ते है परन्तु जो कर्म स्वाभाविक रूप से उदय में आते हैं वे लम्बे समय तक और कष्टपूर्वक भोगे जाते हैं। लेकिन जिन कर्मों की तपश्चर्या आदि द्वारा उदीरणा की जाती है वे जल्दी और सरलतापूर्वक भोगे जा सकते हैं। कर्मों को प्रदेश से भोगना भी भोगना है और विपाक से भोगना भी भोगना है। दोनों प्रकार से कर्म भोगे जाते हैं। परन्तु ज्ञानी पुरुष क्रोध, मान, माया और लोभ आदि, को जीतकर तथा तपश्चर्या द्वारा कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को उज्ज्वल बनाते हैं।

इस प्रकार धर्मक्रियारूपी आग में अगर कर्माङ्कुर दग्ध न किये जाएँ तो उन्हें विपाक से भोगना पड़ता है और तब महान् कष्ट होता है। इस तरह जब कर्म सरलतापूर्वक भोगे जा सकते हैं तो फिर उन्हें महाकष्टपूर्वक क्यों भोगना चाहिए ? इस प्रकार विचार करके ज्ञानी जन कर्म की निर्जरा करने का प्रयत्न करते हैं। जब थोड़ा-सा प्रयास करने से ही कर्मविपाक का घोर कष्ट टल सकता है तो पहले थोड़ा-सा कष्ट सहन न करके विपाक के समय महादुःख सहना कौनसी बुद्धिमत्ता है ? कर्म-विपाक के महान् कष्ट से बचाने के लिए ही भगवान् ने मान को जीतने का उपदेश दिया है। क्योंकि मान को जीतने से जीवन में नम्रता आएगी और नम्रता से कर्मों की निर्जरा होगी। इस शास्त्रीय विषय को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लीजिए :—

एक रोगी को भयङ्कर रोग हुआ। उसने वैद्य से शरीर की परीक्षा करवाई। वैद्य ने रोगी से कहा—अगर तुम्हें 'इन्जेक्शन' लगा दिया जाय तो तुम रोग की भयङ्करता से बच सकते हो। तुम एक-दो इन्जेक्शन लगवा लो। यह सुनकर रोगी ने वैद्य से कहा—'मेरा शरीर बहुत कोमल है, इन्जेक्शन कैसे ले सकता हूँ ? कोई पीने की दवा दे दो।' वैद्य बोला—'जैसी तुम्हारी मर्जी ! मैंने तो तुम्हें रोग से मुक्त होने का उपाय बताया है।' रोगी ने इन्जेक्शन नहीं लिया और परिणाम यह हुआ कि उसका रोग भयङ्कर हो गया। आखिरकार रोग से परेशान होकर वह फिर वैद्य के पास पहुँचा और बोला—'इन्जेक्शन देना हो तो भले दे दीजिये मगर इस भयङ्कर रोग को शान्त कीजिये।'

वैद्य ने कहा—अब यह रोग इन्जेक्शन से भी नहीं मिट सकता। रोग बहुत बढ़ गया है। अब तो ऑपरेशन करना पड़ेगा। पहले इन्जेक्शन लगवा लिया होता तो मिट सकता था।

कारण पहले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा न हो सकती तो शास्त्र में ऐसा न कहा गया होता कि मान को जीतने से पहले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है।

यहाँ यह भी पूछा जा सकता है कि शास्त्र में एक जगह ऐसा कहा है कि 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' अर्थात् किये कर्मों को भोगे विना उनसे छुटकारा नहीं मिलता। इससे विपरीत यहाँ यह कहा गया है कि मान को जीतने से पहले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है। इन दोनों कथनों में परस्पर विरोध जान पड़ता है। इसकी संगति किस प्रकार बिठलाई जा सकती है? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है:—

कर्म भोगने तो पड़ते हैं, परन्तु उनके भोगने के मुख्य दो तरीके हैं। पहला तरीका यह है कि कर्मों को तपस्या आदि के द्वारा उदीरणा करके भोगा जाय और दूसरा तरीका यह है कि कर्म अपना अबाधा काल समाप्त होने पर स्वाभाविक रीति से उदय में आवें और तब भोगे जाएँ। उदाहरणार्थ—रोगी को रोग का दुःख तो सहन करना ही पड़ता है, परन्तु दवा का उपयोग करने से रोग की तीव्रता कम हो जाती है और साथ ही रोग जल्दी और सरलता से भोग लिया जाता है। इसी प्रकार कर्म भोगने तो पड़ते हैं परन्तु जो कर्म स्वाभाविक रूप से उदय में आते हैं वे लम्बे समय तक और कष्टपूर्वक भोगे जाते हैं। लेकिन जिन कर्मों की तपश्चर्या आदि द्वारा उदीरणा की जाती है वे जल्दी और सरलतापूर्वक भोगे जा सकते हैं। कर्मों को प्रदेश से भोगना भी भोगना है और विपाक से भोगना भी भोगना है। दोनों प्रकार से कर्म भोगे जाते हैं। परन्तु ज्ञानी पुरुष क्रोध, मान, माया और लोभ आदि को जीतकर तथा तपश्चर्या द्वारा कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को उज्ज्वल बनाते हैं।

इस प्रकार धर्मक्रियारूपी आग में अगर कर्मांकुर दग्ध न किये जाएँ तो उन्हें विपाक से भोगना पड़ता है और तब महान् कष्ट होता है। इस तरह जब कर्म सरलतापूर्वक भोगे जा सकते हैं तो फिर उन्हें महाकष्टपूर्वक क्यों भोगना चाहिए? इस प्रकार विचार करके ज्ञानी जन कर्म की निर्जरा करने का प्रयत्न करते है। जब थोड़ा-सा प्रयास करने से ही कर्मविपाक का घोर कष्ट टल सकता है तो पहले थोड़ा-सा कष्ट सहन न करके विपाक के समय महादुःख सहना कौनसी बुद्धिमत्ता है? कर्म-विपाक के महान् कष्ट से बचाने के लिए ही भगवान् ने मान को जीतने का उपदेश दिया है। क्योंकि मान को जीतने से जीवन मे नम्रता आएगी और नम्रता से कर्मों की निर्जरा होगी। इस शास्त्रीय विषय को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लीजिए :—

एक रोगी को भयङ्कर रोग हुआ। उसने वैद्य से शरीर की परीक्षा करवाई। वैद्य ने रोगी से कहा—अगर तुम्हें 'इन्जेक्शन' लगा दिया जाय तो तुम रोग की भयङ्करता से बच सकते हो। तुम एक-दो इन्जेक्शन लगवा लो। यह सुनकर रोगी ने वैद्य से कहा—'मेरा शरीर बहुत कोमल है, इन्जेक्शन कैसे ले सकता हूँ? कोई पीने की दवा दे दो।' वैद्य बोला—'जैसी तुम्हारी मर्जी! मैंने तो तुम्हे रोग से मुक्त होने का उपाय बताया है।' रोगी ने इन्जेक्शन नहीं लिया और परिणाम यह हुआ कि उसका रोग भयङ्कर हो गया। आखिरकार रोग से परेशान होकर वह फिर वैद्य के पास पहुँचा और बोला—'इन्जेक्शन देना हो तो भले दे दीजिये मगर इस भयङ्कर रोग को शान्त कीजिये।'

वैद्य ने कहा—अब यह रोग इन्जेक्शन से भी नहीं मिट सकता। रोग बहुत बढ़ गया है। अब तो ऑपरेशन करना पड़ेगा। पहले इन्जेक्शन लगवा लिया होता तो मिट सकता था।

ऑपरेशन की बात सुनकर रोगी घबराया। उसने वैद्य से लगा – ऑपरेशन कराने के लिए मेरा जी नहीं चाहता।

वैद्य ने कहा—जैसी तुम्हारी मर्जी !

रोगी का रोग दिन-दिन बढ़ता गया। वह बेहद परेशान हो गया। तब वह फिर वैद्य के पास पहुँचा। बोला—वैद्यराज ! इन्जेक्शन या ऑपरेशन—जो कुछ करना हो करो, मगर मुझे इस महामुसीबत से उबारो।

वैद्य ने फिर शरीर की जाँच की। उसे मालूम हुआ—रोगी का सारा शरीर सड़ गया है। अब सारे शरीर को चीरना पड़ेगा। उसने रोगी को अपना विचार बतलया। अंग की शस्त्रक्रिया करानी पड़ेगी, यह सुनकर रोगी बहुत घबराया और बोला—मैं अपने प्रिय शरीर पर शस्त्रक्रिया कैसे करा सकता हूँ !

वैद्य ने अन्तिम चेतावनी देते हुए कहा—अभी तो अग चीरने से ही शरीर ठीक हो सकता है, लेकिन बाद में अग चीरने पर भी ठीक नहीं होगा। यह रोग ही ऐसा भयङ्कर है कि फिर वह प्राण लिए बिना शान्त नहीं होगा।

अब अगर रोगी को अपने प्राणों की रक्षा करनी है तो उसे अपने अंग पर शस्त्रक्रिया करानी ही होगी। पहले इन्जेक्शन लेने मात्र से शरीर ठीक हो सकता था, पर तब उसने वैद्य का कहना नहीं माना। अब शस्त्रक्रिया कराने का समय आ गया। अगर अब शस्त्रक्रिया नहीं कराता है तो प्राण जाने का वक्त आएगा।

इसी प्रकार इस समय कर्मरूपी जो रोग लगा है, वह धर्म-क्रियारूपी दवा का नियमित सेवन करने से शान्त हो सकता है।

अगर धर्मक्रियारूपी दवा सेवन न की गई या सेवन करने में देरी की गई तो कर्म-रोग बढ़ जाएगा और परिणाम-स्वरूप इतना दुःख सहन करना पड़ेगा कि उसका कहना भी कठिन है ! अतएव कर्म-रोग को उपशान्त करने के विषय में गम्भीर विचार करो । ज्ञानी जनों ने तपश्चर्या आदि आध्यात्मिक औषधों द्वारा उसे शान्त करने का जो अमोघ उपाय बतलाया है, उसे भलीभाँति काम में लाओगे तो तुम्हारा कर्म-रोग शान्त हो जायगा और अधिक दुःख भी सहन नहीं करना पड़ेगा ।

कुछ लोग कहते हैं कि धर्मक्रिया करने में कष्ट सहन करना पड़ता है। परन्तु ज्ञानियों का कथन है कि कष्ट धर्म करने से नहीं वरन् पूर्व कर्म से होता है। अगर धर्माराधन करते समय होने वाले कष्ट सहन कर लिए जाएँ तो कर्मोदय के कारण होने वाले कष्टों से सहज ही छुटकारा मिल सकता है। ऐसी दशा में अगर थोड़ा कष्ट सहकर भी भविष्य मे आने वाले भयानक दुःखों से बचाव हो सके तो क्या बुराई है ?

कहने का आशय यह है कि अगर मान-जन्य कर्मों की निर्जरा करनी हो तो मान को जीतने का प्रयत्न करो । मान बड़ों-बड़ो को पतित कर देता है । इसलिए अभिमान त्यागो । इस विषय मे एक कवि ने ठीक ही कहा है :—

मान रे मानव ! मान बुरो अति, मान गुमान न मान न नीको,
मान मिटे सम्मान बधे परमान करो शुभ वाक्य यती को।
मान किया अपमान लहै नवि मान लहे वर देवपुरी को,
मानव-देह समान नहीं कछु धर्म सु मान के जाति भली को ॥

इस कविता का भावार्थ यह है—हे पुरुष! मान-अभिमान करना बहुत बुरा है। अभिमानी व्यक्ति को अपमान का दुःख भोगना पड़ता है और अभिमान का त्याग करने वाले को बदले में सन्मान प्राप्त होता है। निरभिमान व्यक्ति को इन्द्र भी नमस्कार करता है। यह बात सिद्ध करने के लिए शास्त्रकार ने श्रीउत्तराध्ययन सूत्र में एक ऐतिहासिक उदाहरण उद्धृत किया है:—

दसण्णरज्जं मुदियं चइत्ताणं मुणी चरे।
दसण्णभद्दो निक्खंतो सक्खं सक्केण चोइओ॥

—उत्तरा० १८, ४४

अर्थात्—शक्रेन्द्र की प्रेरणा होने से प्रसन्न और पर्याप्त दशार्ण-राज्य को त्याग कर दशार्णभद्र ने त्यागमार्ग अपनाया।

दशार्णभद्र राजा ने अभिमान त्याग कर किस प्रकार त्यागमार्ग अपनाया, इस विषय मे निम्नलिखित कथा प्रचलित है—

आजकल जिसे मन्दसौर कहते है, उसका प्राचीन नाम दशार्णपुर है। दशार्णपुर का राजा दशार्णभद्र था। राजा धर्मनिष्ठ और भावनाशील था। उसने विचार किया—मुझे जो ऋद्धि-सिद्धि मिली है उसका उपयोग भगवान् की ऐसी सेवा मे करना चाहिए जैसी सेवा आज तक किसी भी राजा ने न की हो। अपनी इस शुभ भावना को कार्यरूप में परिणत करने का भी राजा को सुयोग मिल गया। राजा ने सुना—भगवान् महावीर इस ओर पदार्पण कर रहे है। यह समाचार पाते ही राजा की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने बड़े उत्साह के साथ प्रजा-जनो को आज्ञा दी कि भगवान् को वन्दना करने के लिए जाते समय ऐसी तैयारी की जाय, जैसी आज

तक किसी ने न की हो। जब राजा में इतना उत्साह हो तो प्रजा में और उसके नौकर-चाकरवर्ग में भी उत्साह हो आना स्वाभाविक है। भगवान् को वन्दना करने के लिए राजा दशार्णभद्र ने अपूर्व तैयारी की और प्रस्थान किया। राजा को अपनी ऋद्धि देखकर अभिमान हुआ कि मेरे समान ऐसी तैयारी करके भगवान् की वन्दना के लिए और कौन गया होगा? लोगों को नवीन कपड़ा या जूता मिल जाने पर भी जब अभिमान हो जाता है तो राजा को अपनी ऋद्धि देखकर अगर अभिमान उत्पन्न हुआ तो आश्चर्य ही क्या है? मगर लोगों को समझना चाहिए कि ऐसे राजा का भी अभिमान न रहा तो दूसरों की तो बात ही क्या है?

राजा दशार्णभद्र सबको दान-मान-सन्मान आदि से संतुष्ट करता हुआ अपनी ऋद्धि-सम्पदा के साथ भगवान की वन्दना के लिए निकला। दूसरी तरफ शक्रेन्द्र भी भगवान् की वन्दना के लिए आये थे। इन्द्र ने राजा को ऋद्धि के साथ वंदना करने आते देखा पर उसने राजा के हृदय के अभिमान को भी जान लिया। ज्ञानी इन्द्र ने विचार किया—राजा का अभिमान दूर कर देना चाहिए और उसे सत्यमार्ग दिखलाना चाहिए। इस प्रकार विचार कर इन्द्र ने अपनी वैक्रिय लब्धि से एक ऐसा हाथी बनाकर उतारा कि उसके सामने राजा की सारी ऋद्धि फीकी पड़ गई!

राजा अभिमान के वश होकर विचारने लगा—इन्द्र ने मेरी ऋद्धि की तुच्छता दिखलाई है और एक प्रकार से मुझे पराजित किया है। ऐसी स्थिति में मुझे क्या करना चाहिए? मैं इन्द्र की होड़ नहीं कर सकता, क्योंकि इन्द्र अपनी वैक्रिय लब्धि से इच्छानुसार ऋद्धि बना सकता है। तो फिर इन्द्र को जीतने के लिए क्या उपाय करना चाहिए? यह ठीक है कि मैंने अभिमान किया सो उचित नहीं

था, मगर अब पकड़ी हुई टेक किस प्रकार सिद्ध की जाय ? । इन्द्र को जीतने का मेरे पास एक ही उपाय है—त्याग। त्याग के अतिरिक्त और किसी भी उपाय से वह पराजित नहीं हो सकता।

इस प्रकार विचारकर दशार्णभद्र राजा ने सर्वविरति संयम स्वीकार किया। अब बेचारा इन्द्र क्या करे ? उसने सोचा—प्रथम तो मैं दीक्षा ही नहीं ले सकता—ऐसा त्याग ही नहीं कर सकता। कदाचित् दीक्षा ले लूं तो भी मुझे इन मुनि से लघु शिष्य ही बनना पड़ेगा। अतएव श्रेयस्कर यही है कि इन मुनि से क्षमायाचना करके पवित्र हो जाऊँ।

इस प्रकार विचारकर इन्द्र ने मुनि को नमस्कार किया और कहा—'भगवान् की वन्दना करने के लिए आप सरीखी तैयारी वास्तव में किसी ने नहीं की है और अब आपका त्याग भी अपूर्व है। आपके त्याग से मैं प्रभावित हुआ हूँ।' इस प्रकार कहकर इन्द्र ने राजा के त्याग की प्रशंसा की और मुनि से क्षमायाचना की।

त्याग करने की शक्ति मनुष्य में ही होती है। देव में मनुष्य जितनी त्याग-शक्ति नहीं होती। इसी कारण देवभव की अपेक्षा मनुष्यभव बहुमूल्य माना गया है। मनुष्य अभिमान न करे तो देवों को भी जीत सकता है। श्रीदशवैकालिकसूत्र में भी कहा है :—

देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।

अर्थात्—जिसका मन सदा धर्म में अनुरक्त रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

धर्म का आचरण करने के लिए मनुष्य को जैसी सामग्री प्राप्त है, वैसी देव को भी प्राप्त नहीं है। अगर देवों को भी जीतना

है तो मान को जीतो। मान करके दशार्णभद्र राजा इन्द्र को नहीं जीत सका। त्याग करके उसने इन्द्र को पराजित कर दिया। मुनि-वन्दन करते समय आजकल भी उनका नाम स्मरण किया जाता है—

दशार्नभद्र राजा, वीर वंद्या धरी मान,
पछि इन्द्र हरायो, दियो छः काया ने अभयदान।

यह बात ध्यान में रखकर तुम भी अभिमान को तजो। धर्म के प्रताप से ही इन्द्र, एक राजा के चरणो में नत हुआ था। राजा ने अभिमान छोड़ा तो इन्द्र को भी उसके चरणों की वन्दना करनी पड़ी। अतः अभिमान त्यागो। इसी में आत्मा का कल्याण है। जो अभिमान का त्याग करता है वह अपने आत्मा का उत्थान करता है और जो अभिमान करता है वह अपने आत्मा को पतित करता है।

वृक्षो में भी जो वृक्ष नम्र रहता है वह अच्छा समझा जाता है और जो अकड़ा रहता है वह ठूँठ कहलाता है। नम्र वृक्ष मे फल भी रसीले और मीठे लगते हैं, जब कि अकड़े रहने वाले वृक्ष के फल कटुक और खराब होते हैं। उदाहरणार्थ—आम और एरंड को देखो। आम नम्र होता है तो उसके फल मधुर और सुन्दर होते है। एरंड अकड़ा रहता है तो उसके फल कटुक होते है। इस प्रकार जहाँ नम्रता होती है वहाँ अन्यान्य गुण भी आ जाते हैं। कहावत भी है—'जो नमता है वह परमात्मा को गमता है।' अर्थात् जो नम्रता धारण करता है वह परमात्मा का भी प्रिय बन सकता है।

इसलिए तुम अपने जीवन मे नम्रता को स्थान दो। नम्रता स्वार्थ की पूर्ति करने के लिए भी धारण की जाती है। मगर स्वार्थ

शब्दार्थ

प्रश्न—भंते ! माया को जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गौतम ! माया को जीतने से जीव को आर्जव (सरलता) की प्राप्ति होती है और माया से वेदे जाने वाले कर्मों का बंध नहीं होता और पहले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है।

व्याख्यान

जो माया को जीतता है वही सरलता रख सकता है और जो सरलता रखता है वही माया को जीत सकता है। भावों की वक्रता ही माया कहलाती है। शास्त्र में कहा है :—

मायी मिच्छादिट्ठी, अमायी सम्मादिट्ठी।

अर्थात्—कपट ही मिथ्यात्व है और सरलता ही सम्यक्त्व है। यही बात ध्यान में रखकर माया का त्याग करना चाहिए। माया का त्याग करने से ही आत्मा मे सरलता आयेगी और जब सरलता आएगी—माया न रह जाएगी—तब आत्मा का कल्याण होने में देरी नहीं लगेगी।

संसार में प्रायः अनेक लोग जान-बूझकर मायाजाल मे फँसते हैं। जो मायाचार करना जानता है उसे आज 'पोलिटिकल' जैसा सुन्दर विशेषण लगाया जाता है। मगर शास्त्र मे मायाचारी मनुष्य की निन्दा ही की गई है। मायाचारी अपनी माया से भले ही दूसरों को ठगता हो पर उसकी आत्मा तो भलीभाँति जानती ही है कि मैं कपट का सेवन कर रहा हूँ। कोई अपने छल-बल से किसी अपढ़ आदमी को पाँच और पाँच ग्यारह कहकर भले ही ठग ले,

मगर वह स्वयं तो जानता है कि पाँच और पाँच दस होते हैं। मैं तो कपट करके ही ग्यारह मनवा रहा हूँ। इस प्रकार अपना ही आत्मा कपट की निन्दा करता है। आज तो वही चतुर समझा जाता है जो दूसरों को ठगने में चतुर हो। वकील भी वही होशियार गिना जाता है जो झूठे को सच्चा और सच्चे को झूठा साबित कर सकता हो।

सुना है, एक होशियार वकील भोजन करने बैठा था। इतने में उसका एक मुवक्किल आया और उसने पचास हजार रुपये के नोट वकील के सामने रख दिये। वकील ने अपनी चतुराई का गर्व प्रकट करते हुए अपनी पत्नी की ओर निगाह फेरी। मगर पत्नी मुंह के आगे हाथ लगाकर रुदन कर रही थी। वकील ने रोने का कारण पूछा। कहा—'क्यों, अपने घर किस बात की कमी है? देखो, आज ही पचास हजार आये हैं। मैं कितना होशियार हूँ और मेरी कितनी ज्यादा कमाई है, यह सब जानते-बूझते भी तुम रो रही हो?'

वकील की पत्नी ने कहा—मैं तुम्हें देखकर रो रही हूँ।

वकील—क्यों? मैंने कोई बुरा काम किया है?

वकील-पत्नी—आपने सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा बनाया है। यह क्या कम खराब काम है? आप पचास हजार पाकर फूले नहीं समाते, मगर जिसके एक लाख डूब गये और एक लाख घर से देने पड़े, उसके दुःख का क्या पार होगा? मुझे नहीं मालूम था कि आप इस प्रकार पाप का पैसा पाकर आनन्द मान रहे हैं।

वकील—हमारा धन्धा ही ऐसा है। ऐसा न करें तो काम कैसे चले?

पत्नी—आप सत्य को असत्य बनाते हैं, इसके बदले असत्य को सत्य बनाने की ही वकालत क्यों नहीं करते ? सच्चा मुकद्दमा हाथ में ले तो क्या आपका काम नहीं चलेगा ? मैं चाहती हूँ कि आप प्रतिज्ञा ले लें कि भविष्य में कोई भी झूठा मुकद्दमा आप हाथ में नहीं लेंगे।

पत्नी की बात वकील के गले उतर गई। वकील ने झूठा मुकद्दमा न लेने की प्रतिज्ञा की। उसने अपने मुवक्किल से कहा—आप यह रुपया ले जाइए और किसी प्रकार अपने प्रतिवादी को सन्तुष्ट कीजिए। दरअसल आज उसे कितना दुःख हो रहा होगा ? आज मैं अपने वाक्चातुर्य से न्यायाधीश के सामने झूठा को सच्चा और सच्चे को झूठा सिद्ध करने में सफल भी हो जाऊँ किन्तु जब परलोक में मुझे पुण्य-पाप का हिसाब देना पड़ेगा तब क्या उत्तर दूंगा ? कहा भी है :—

होयगो हिसाब तब मुख से न आवे ज्वाब,
'सुन्दर' कहत लेखा लेगो राई-राई को ॥

वकील की बात सुनकर मुवक्किल भी चकित रह गया और कहने लगा—वास्तव में वकील-पत्नी एक सत्यमूर्ति है जिसने पचास हजार को भी ठोकर लगा दी।

इस घटना के आधार पर तुम किसे महान् मानोगे ? स्त्री को या पुरुष को ? हमारे लिए तो स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं है। जो सत्य-सरलता रखता है वही महान् है। शास्त्र में भी कहा है—'तं सच्चं खु भयवं' अर्थात् सत्य ही भगवान् है। हम लोग सत्यमूर्ति भगवान् महावीर के शिष्य हैं। हमें उनके कथन पर विश्वास रखकर कपटभाव का त्याग करना चाहिए।

सत्याचरण की प्रतिज्ञा ले लेने से वकील की पत्नी अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसने कहा—हम लोगो को भले ही कष्ट सहन करने पड़ें, लेकिन पाप की कमाई करना उचित नहीं है। दूसरे दिन वकील ने वादी और प्रतिवादी को बुलाकर दोनों के बीच सन्तोषजनक समझौता करा दिया।

कहने का आशय यह है कि छल-कपट करने वाले को लोग होशियार समझते हैं परन्तु जब कपटी का ध्यान अपनी ओर जाता है तो उसे पश्चात्ताप हुए बिना नहीं रहता। अतएव छल-कपट का त्याग करके और माया-ममता को छोड़कर आत्महितैषी लोगों को सरलता का आश्रय लेना चाहिये। लोगों में कपट होने के कारण ही आज कचहरियाँ निभ रही हैं। पहले जब लोगों में सरलता थी तो पचायत में ही झगड़े का समाधान हो जाता था। सुनते हैं, अब फिर पंचायत की पद्धति आरम्भ हो रही है। परन्तु यह पद्धति तभी लाभदायक हो सकती है जब कपट का त्याग करके सत्यता और सरलता को जीवन में स्थान दिया जाय। सत्यता और सरलता रखना ही सुमति है तथा कूड़ कपट और माया-ममता रखना ही कुमति है। अगर हम सुमति चाहते हैं तो कपट का त्याग करना अनिवार्य है।

जो लोग सत्यता और सरलता का महत्व समझते हैं, वे मस्तक पर अनेक संकट आ पड़ने पर भी सत्यता और सरलता का परित्याग नहीं करते। शास्त्र में इस बात के ज्वलन्त उदाहरण मौजूद हैं कि सत्यता और सरलता के द्वारा किस प्रकार आत्मा का कल्याण किया जा सकता है। उन उदाहरणों में से अनेक उदाहरण तुम्हें सुनाये भी गये हैं। फिर भी तुम इस ओर उपेक्षा ही धारण किये हो, यह उचित नहीं। सत्यता और सरलता की उपेक्षा करने

का परिणाम आखिर बुरा ही आता है। रावण ने साधु का वेष पहनकर कपटपूर्वक सीता का हरण किया और राम की मर्यादा का उल्लंघन किया था। मगर जब उसका कपट खुल गया तो कितना भीषण परिणाम आया? कपट प्रकट होने पर दुष्परिणाम होता ही है। अतएव कपट का त्याग करके सरल-सत्य व्यवहार करो। इससे अन्त में तुम्हारा भला ही होगा। अंजना में कपट होता और सरलता न होती तो अन्ततः वह प्रकट हुए विना न रहता। मगर उसमें सरलता थी और साथ ही सत्यता थी अतएव वह यही विचारती थी कि आखिर तो 'सत्यमेव जयते नानृतम्' अर्थात् विजय सत्य की ही होती है।

श्रीभगवतीसूत्र में भगवान् से गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है:-

प्रश्न—से णूणं भंते! अथिरं पलोट्टइ, थिरं न पलोट्टइ?

उत्तर—हंता, गोयमा!

अर्थात्—हे भगवन्! अस्थिर पलटता है और स्थिर नहीं पलटता है, यह बात सच है? भगवान् उत्तर देते हैं—हाँ, गौतम! यह सच है।

यही बात सत्य के विषय में समझना चाहिए, क्योंकि सत्य भी स्थिर और शाश्वत है। सत्य सदा सत्य ही रहता है। अतएव सत्य को जीवन में स्थान दो। सत्य को अपनाना भगवान् को अपनाना है।

कहते हैं, एक बार कबीर ने चलती चक्की देखी और उसमें से गेहूँ का आटा निकलते देखा। यह देखकर उन्होंने कहा—

चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय ।
दोनों पुड़ के बीच में, साबित बचा न कोय ॥

कबीर चलती चक्की देखकर रो पड़े और कहने लगे—इस पृथ्वी और आकाशरूपी विश्वव्यापी चक्की के पाटों में से कोई भी जीव नहीं बच सका। सभी को मरना पड़ा है। कबीर का यह कथन पास में खड़े एक मनुष्य ने सुना और वह बोला—

चक्की चले तो चलन दे, सबका मैंदा होय ।
कीले से लागे रहो, बाल न बांका होय ॥

अर्थात्—चक्की चलती है और गेहूँ का आटा हो रहा है तो होने दो। अगर परमात्मा या सत्यरूपी कील को पकड़े रहोगे तो तुम्हारा बाल भी बांका नहीं हो सकता। कहा भी है—

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।

अर्थात्—इस परिवर्त्तनशील संसार में जो उत्पन्न होता है वह अवश्य मरता है।

परन्तु जो सत्य की कीली को पकड़ रखता है, उसका कुछ भी नहीं बिगड़ता। उसकी रक्षा अवश्य होती है। अतएव परमात्मा-रूपी कीले को पकड़े रहो तो तुम्हारी रक्षा होगी। परमात्मा के सान्निध्य में (समीप में) आना ही योग है। कहा भी है—'संयोगो योग इत्युक्तः।' अर्थात् परमात्मा के साथ जीवात्मा का संयोग होना ही योग कहलाता है। आत्मा और परमात्मा के बीच एकता स्था-

पित करने के लिए ही अष्टविध योग की क्रिया की जाती है। तुमसे कुछ अधिक नहीं हो सकता तो सत्य का अवश्य पालन करो। सत्याचरण करना भी आत्मा और परमात्मा के बीच एकता स्थापित करने का साधन है। तुम चाहे जैसी दुःखमय अवस्था में होओ, अगर तुम परमात्मारूपी जीवन से जीवित हो तो तुम्हारे आत्मा का कल्याण हुए विना रह ही नहीं सकता। तथास्तु।

७४

सत्तरवां बोल ।

लोभ–विजय

परमात्मा का सच्चा नाम–सकीर्तन करने के लिए कषाय का त्यागना आवश्यक है। जब तक हृदय में कषायभावना है तब तक परमात्मा की सच्ची प्रार्थना नहीं हो सकती। कषाय का त्याग करना अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतना। कषाय को जीतने से आत्मा को बहुत लाभ होता है। क्रोधविजय, मानविजय और मायाविजय से होने वाले लाभो पर पहले विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। अब लोभ को जीतने से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय में गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं :—

मूलपाठ

प्रश्न—लोहविजएणं ! भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—लोहविजएणं संतोसं जणयइ, लोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥७०॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! लोभ को जीतने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—लोभ को जीतने से आत्मा सन्तोष प्राप्त करता है, लोभ-वेदनीय कर्मों का बंध नहीं करता और पहले बँधे कर्मों की निर्जरा करता है।

व्याख्यान

अवगुणों में लोभ सबसे बड़ा अवगुण है। लोभ से लौकिक हानि भी होती है और लोकोत्तर हानि भी होती है। लोभ का कहीं थोभ (विश्राम) नहीं होता। इसी कारण लोभ को वैतरणी नदी की उपमा दी गई है। लोभ-तृष्णा कैसी है, इस विषय में एक कवि ने कहा है :—

आशानाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला,
राग ग्राहवती वितर्कगहना धैर्य-द्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्त्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी,
तस्या पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः।

इस श्लोक में कवि कहता है कि आशा नदी—वैतरणी नदी के समान है। तृष्णा, लोभ, आशा, यह सब पर्यायवाची शब्द हैं। जो लोग इस तृष्णा नदी के प्रवाह में फँस जाते हैं, उनके हृदय में ऐसे अनेक सस्कार उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण दुःख भोगने पड़ते हैं और संसार में परिभ्रमण करना पडता है।

आशारूपी नदी में मनोरथरूपी जल भरा है। नदी के पानी का तो अन्त आ सकता है परन्तु मनोरथ का अन्त नहीं आ सकता। श्रीउत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—दो माशा सोने की इच्छा रखने वाले की करोड़ों की सम्पत्ति से भी आशा-तृष्णा शान्त नहीं हुई। इस प्रकार आशा-तृष्णारूपी नदी के मनोरथरूपी जल से बाहर निकलना बड़ा ही कठिन है। बड़ी-बड़ी नदियों को पार करने में तो बहुत से लोग समर्थ हुए होंगे, पर आशा-नदी को पार करने में कोई विरले ही समर्थ हो पाते हैं। साधारण लोग इस नदी को पार नहीं कर सकते।

आशा-नदी में मनोरथरूपी जो पानी भरा हुआ है, उसमें तृष्णा की तरंगें उठती रहती हैं। जैसे नदी में मगर-मच्छ होते हैं, उसी प्रकार आशा नदी में भी द्वेषरूपी मगरमच्छ होते हैं। वे आपस में ही एक-दूसरे को खा जाते हैं। वे यह विचार नहीं करते कि जैसे मैं दूसरे को खा जाता हूँ वैसे ही दूसरा कोई मुझे भी खा जाएगा। इसी प्रकार संसार में पड़े लोग राग-द्वेष के वश होकर एक दूसरे पर आक्रमण करना चाहते हैं। वे यह नहीं विचारते कि जिस प्रकार हम दूसरे पर आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार दूसरे हमारे ऊपर भी आक्रमण करेंगे।

नदी में जब पूर आता है तब किनारे के छोटे-छोटे पौधे भी बह जाते हैं। आशा नदी भी अपने किनारे पर उगे हुए धैर्य आदि गुणरूपी पौधों को बहा ले जाती है। नदी में भँवर पड़ते हैं और उनमें बड़े-बड़े आदमी भी डूब जाते हैं, उसी प्रकार आशा-नदी में भी मोहरूपी भँवर पड़ते हैं, जिनमें बड़े बड़े भी डूब मरते हैं। आशा-नदी के दोनों ओर चिन्तारूपी दो किनारे हैं। अन्य नदियों को तो नौका आदि द्वारा पार किया जा सकता है, लेकिन आशा-नदी को

पार करना अत्यन्त ही कठिन है। इस दुस्तर नदी को कोई शुद्ध मन वाला योगीश्वर ही पार कर सकता है।

नाव में बैठकर कोई भी दुस्तर नदी पार की जा सकती है। बल्कि ऐसी अवस्था में नदी एक क्रीड़ास्थली बन जाती है। इसी प्रकार जो लोग शुद्ध भावना के साथ परमात्मा का शरण ग्रहण करते हैं, उनके लिए यह संसार भी क्रीड़ाधाम बन जाता है। परमात्मा के शरण में जाने पर यह दुःखमय संसार भी सुखमय बन जाता है। अतएव अगर दुःखमय संसार को सुखमय बनाना चाहते हो तो परमात्मा का तथा परमात्म-प्ररूपित धर्म का शरण स्वीकार करो।

कहने का आशय यह है कि आत्मा को आशा-नदी पार करनी चाहिए। अगर तुम आत्मा को आशा-नदी के परले पार पहुँचाना चाहते हो तो परमात्मा के शरण में जाओ और कुछ भी न बन पड़े तो परमात्मा का नाम-कीर्तन ही करो। शास्त्र में कहा है—

एक्को वि णमुक्कारो जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स।
संसार-सायराओ तारेइ नरं व नारिं वा॥

परमात्मा को किया गया एक भी नमस्कार जब आत्मा को संसार-समुद्र से पार कर देता है तो फिर एक नदी को पार करा देना कौन बड़ी बात है? अतः संसार-समुद्र को पार करने के लिए परमात्मा के शरण में जाना चाहिए। परमात्मा के शरण में जाने से आत्मा का कल्याण अवश्य होता है।

आज केवल कहने का जमाना नहीं रहा। अब कार्य कर दिखाने का समय आ गया है। इसलिए तुम सुनने या कहने में ही

न रहो वरन् आत्मा का कल्याण करने वाले कार्यों में लगो। पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज कहा करते थे—अपना शरीर नष्ट करने के लिए तो एक सुई की ही आवश्यकता रहती है, परन्तु दूसरों का शरीर नष्ट करने के लिए तलवार, बन्दूक आदि बड़े शस्त्रों की जरूरत पड़ती है। इसी प्रकार जब दूसरों को उपदेश देना हो तो हेतु-दृष्टान्त आदि की आवश्यकता रहती है परन्तु जब अपनी ही आत्मा का कल्याण करना हो तो अधिक कहने की आवश्यकता नहीं रहती। सिर्फ आत्मा को सरल बनाकर आत्मा का कल्याण करने वाले अनुष्ठान करने की ही आवश्यकता होती है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब परमात्मा का नाम-संकीर्तन करने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है तो फिर लोभ को जीतने के विषय में भगवान् से क्यों प्रश्न किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि लोभ को जीतने से ही परमात्मा के नाम का सच्चा संकीर्तन हो सकता है। लोभ में पड़े हुए लोग परमात्मा का संकीर्तन करते-करते दूसरे प्रलोभनों में फँस जाते हैं और तुच्छ वस्तु के लिए महान् वस्तु का त्याग कर देते हैं। जैसे मूर्ख मनुष्य थोड़े से लाभ के बदले कीमती वस्तु का त्याग कर देते हैं, उसी प्रकार बहुतसे लोग नौ निदानों में से, किसी प्रकार के निदान (नियाणा) द्वारा अपनी धर्मक्रिया बेच डालते हैं। जब लोभ जीत लिया जायगा तो इस प्रकार की भूल नहीं होगी। लोभ-विजयी पुरुष महान् परिश्रम से प्राप्त वस्तु व्यर्थ नष्ट नहीं करेगा।

कल्पना कीजिये, किसी को खान खोदते समय एक कीमती हीरा मिला। अब दूसरा आदमी उससे कहता है—'यह हीरा मुझे दे दो, मैं तुम्हें पाँच सेर मिठाई देता हूँ।' हीरा वाले पुरुष को भूख भी लगी है। फिर भी क्या वह मिठाई के बदले हीरा दे देगा? इस

प्रश्न का उत्तर नकार मे ही मिलेगा। वह यही सोचेगा कि मेरा हीरा कीमती है। मैं मामूली कीमत की मिठाई के बदले अपना मूल्यवान् हीरा कैसे दे दूं? अगर वह हीरे को कीमती समझता हुआ भी मिठाई के बदले में दे देता है तो उसे मूर्ख ही कहना होगा। इसी प्रकार नाम-संकीर्तनरूपी रत्न को तुच्छ वस्तु के बदले में दे देना मूर्खता ही है। जो लोग नाम संकीर्तन को कीमती समझकर ससार के किसी भी पदार्थ के साथ उसकी अदल-बदल नहीं करते, वही उसका महान् फल प्राप्त कर सकते हैं। पर यह महान् फल तभी प्राप्त हो सकता है जब लोभ पर विजय प्राप्त कर ली जाय। इस प्रकार लोभ को जीते विना परमात्मा के नाम-कीर्तन का यथेष्ट लाभ प्राप्त नहीं हो सकता।

अगर कोई सौ रुपया देकर तुम्हें भगवान महावीर को गाली देने के लिए कहे तो क्या तुम भगवान् को गाली दोगे? नहीं। भले तुम्हे रुपया की आवश्यकता है, फिर भी तुम भगवान् को गाली नहीं दोगे। ऐसा करने का कारण यही है कि तुमने भगवान् के लिए सौ रुपये का लोभ त्याग दिया है। जैसे तुमने सौ रुपये का लोभ छोड़ रक्खा है, उसी प्रकार कोई हजार का लोभ छोड़ने वाला भी मिल सकता है। इसी प्रकार जो महान् लोभ त्याग देता है वही नाम-संकीर्तन का लाभ प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत जो लोभ नहीं तजता वह तुच्छ वस्तु के बदले में नाम-संकीर्तन के महान् लाभ से वंचित हो जाता है। अरणक श्रावक को देव ने कुंडल की दो जोड़ियाँ दी थीं, लेकिन अरणक ने उन्हें अपने पास नहीं रक्खा, क्योंकि वह उसकी परिग्रह की मर्यादा से बाहर थीं। अगर अरणक ने लोभ न जीता होता तो क्या वह मर्यादा में स्थिर रह सकते थे? जो व्यक्ति अपनी वस्तु को अनमोल मानकर पुद्गल के मोह में नहीं

पड़ता है, वही अपनी वस्तु की रक्षा कर सकता है। इसी प्रकार परमात्मा के नामसंकीर्तन के फल की रक्षा भी वही कर सकता है जो नामसंकीर्तन के बदले में संसार की कोई भी वस्तु नहीं चाहता।

तुममें से कोई कह सकता है कि हम परमात्मा के नाम-संकीर्तन के बदले में सांसारिक पदार्थों की इच्छा करते ही कहाँ है! ऐसा कहने वाले को यही उत्तर दिया जा सकता है कि अनेक लोग हमारे पास आते हैं और कहते हैं—मुझे अमुक काम के लिए जाना है, अतः मांगलिक सुनना चाहता हूँ। हालांकि साधु को किसी भी समय मांगलिक सुनाने में कोई बाधा नहीं है, फिर भी देखना चाहिए कि सुनने वाले की भावना क्या है! वह तो मांगलिक सुनकर अपने सांसारिक कार्य की सफलता ही चाहता है। पर इस तरह सांसारिक पदार्थों के प्रति ममता रखकर मांगलिक सुनना तो परमात्मा के नामसंकीर्तन को सांसारिक पदार्थों के बदले में बेचने के समान है। इसलिए आत्मा को निर्मल रखना चाहिए और ससारिक पदार्थों के प्रति उत्पन्न होने वाली इच्छा को दबा रखना चाहिए। हम लोगों को आत्मकल्याण का यह सुयोग प्राप्त हुआ है। इस सुयोग को वृथा न जाने देकर परमात्मा का नाम सकीर्तन करके आत्महित साध लेना चाहिए। परमात्मा के नाम-सकीर्तन का महत्व कुछ कम नहीं है। शास्त्र मे कहा है :—

तहारूवाणं अरिहंताणं भगवंताणं नामगोयं सवणयाए वि महाफलं।

अर्थात्—तथारूप अरिहन्त भगवान के नाम-गोत्र का श्रवण करने से भी महान् फल प्राप्त होता है। इस महान् फल की प्राप्ति सरलतापूर्वक हो सकती है, पर लोग परमात्मा का नामकीर्तन

न करके फिजूल कामों में समय का दुरुपयोग करते हैं। लोग रेल में बैठकर एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं। उस समय रेल में कोई खास काम नहीं रहता। फिर भी लोग क्या परमात्मा का स्मरण करने में वह समय लगाते हैं ? उस समय में परमात्मा का नाम-स्मरण किया जाय तो क्या हानि हो सकती है ? ऐसा न करने का कारण नामस्मरण के प्रति उनकी लापरवाही ही है। मैं तुम सबको परमात्मा का नामस्मरण करने का उपदेश देता हूँ। परन्तु जब तक तुम्हारे आत्मा में जागृति न आवे तब तक सिर्फ मेरा उपदेश क्या असर कर सकता है ? जमीन में बीजारोपण करने पर वर्षा हो जाय तो बीज उग सकता है। अगर बीजारोपण ही न किया हो तो वर्षा होने पर भी उससे क्या लाभ है ? अतएव मुझे तुमसे यही कहना है कि अपने अन्तरात्मा में परमात्मा का नाम-कीर्तन करने की जागृति उत्पन्न करो। लोभ का त्याग करके परमात्मा का नाम-संकीर्तन करने से आत्मा का कल्याण हुए बिना नहीं रहेगा।

७५

एकत्तरवां बोल ।

राग-द्वेष-मिथ्यादर्शन-विजय

आत्मा को स्वतन्त्र बनाने के उद्देश्य से ही शास्त्र में सम्यक्त्व के विषय में पराक्रम करने के लिए कहा गया है। सम्यक्त्व में पुरुषार्थ करना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

पराक्रम, शक्ति, सामर्थ्य या पुरुषार्थ तो प्रत्येक जीवात्मा मे विद्यमान है। मगर उसका उपयोग भिन्न-भिन्न रूपो मे हो रहा है। जो पुरुष शस्त्र का प्रयोग दूसरे पर न करके अपने ही ऊपर करता है, उसकी गणना मूर्खों में की जाती है। इसी प्रकार संसार से तिरने के जो साधन प्राप्त हुए हैं, उन साधनों से संसार में डूबने वाला जीव बालजीव कहलाता है।

जब यह बाल-भाव मिटता है तो साथ ही दृष्टि में भी परिवर्त्तन होता है। इस परिवर्तित दृष्टि को जैनदर्शन सम्यग्दृष्टि कहता है। इस दृष्टि को प्राप्त करने के पश्चात् जो पुरुषार्थ होता है वही सच्चा पुरुषार्थ है।

जीवन का सच्चा पुरुषार्थ स्फुटित करने के लिए शास्त्रकारों ने सम्यक्त्वपराक्रम नामक अध्ययन में ७३ उपाय बतलाये हैं। इनमें से सत्तर उपायों पर विस्तार के साथ विवेचन किया जा चुका है। सड़सठवें से सत्तरवें बोल तक कषाय का त्याग करने के लिए कहा गया है। राग, द्वेष और मिथ्यात्व का त्याग किये बिना कषाय का त्याग नहीं हो सकता। इसलिए गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से राग द्वेष-मिथ्यात्व के त्याग के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं :—

मूलपाठ

प्रश्न—पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं नाणदंसणचरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ, अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगंठिविमोयणयाए तप्पढमयाए जहाणुपुव्वीए अट्ठवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं नाणावरणिज्जं, नवविहं दंसणावरणिज्जं, पंचविहं अन्तराइयं, एए तिन्नि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ, तओ पच्छा अणुत्तरं कसिणं पडिपुण्णं निरावरणं वितिमिरं विसुद्धं लोगालोगप्पभावं केवलवरनाणदंसणं समुप्पाडेइ, जाव सजोगी भवइ ताव इरियावहियं कम्मं निबंधइ सुहफरिसं दुसमयठिइयं, तं पढमसमए बद्धं बिइयसमये वेइयं तइयसमये निज्जिण्णं, तं बद्धं पुट्ठं उदीरियं वेइयं निज्जिण्णं सेयाले य अकम्मं यावि भवइ ॥७१॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! राग द्वेष तथा मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गौतम ! राग द्वेष तथा मिथ्यादर्शन को जीतने से, सर्वप्रथम तो जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना मे उद्यमी बनता है, फिर आठ प्रकार के कर्मों की गांठ से मुक्त होने के लिए क्रमपूर्वक अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय कर्म का क्षय करता है। उसके अनन्तर पाँच प्रकार के ज्ञानावरण कर्म, नौ प्रकार के दर्शनावरण कर्म और पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म का एक साथ क्षय करता है। तत्पश्चात् श्रेष्ठ, सम्पूर्ण, आवरणरहित, अन्धकाररहित, विशुद्ध और लोक अलोक में प्रकाशित केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त करता है। केवलज्ञानी और केवलदर्शनी होने के बाद जब तक सयोगी होता है तब तक ईर्यापथिक कर्म बँधता है। उस कर्म का स्पर्श सिर्फ दो समय की स्थिति वाला और सुखकर होता है। वह कर्म पहले समय में बँधता है, दूसरे समय में वेदन किया जाता है और तीसरे समय मे नष्ट हो जाता है।

व्याख्यान

शास्त्र में कहा है—'रागो य दोसो वि य कम्मवीय' अर्थात् राग और द्वेष—यह दोनों कर्मबीज हैं। संसार से मुक्त होने के लिए इस कर्मबीज को दग्ध कर देना आवश्यक है। द्वेष को जीतना जितना कठिन है, उसकी अपेक्षा राग को जीतना अधिक कठिन है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करने मे राग, द्वेष तथा मिथ्यात्व, यह तीनों बाधक हैं। यहाँ राग-द्वेष और मिथ्यात्व को एक साथ बतलाकर उनका कार्य-कारण संबंध प्रकट किया गया है।

बाह्य दृष्टि से राग-द्वेष को जीत लेने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि वास्तव में राग द्वेष जीत लिए गये हैं। जब सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की आराधना हो तभी समझना चाहिए कि राग-द्वेष पर विजय प्राप्त हो चुकी है। अगर इस रत्नत्रय की भलीभाँति आराधना नहीं होती तो समझना चाहिए कि राग, द्वेष और मिथ्यात्व को लोक-दिखाऊ ही जीता है—वास्तविक रूप से नहीं।

जिस काम को करने मे कोई कष्ट नहीं होता, लोग उसे करने के लिए तैयार हो जाते हैं। मगर कष्टकारी कार्य करने के लिए लोग तैयार नहीं होते। जैसे एकेन्द्रिय जीव की रक्षा करना भी शास्त्रसम्मत है, किन्तु एकेन्द्रिय जीव की रक्षा करने के लिए जितना पुरुषार्थ करना पड़ता है, उसकी अपेक्षा बहुत ज्यादा पुरुषार्थ पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा के लिए करना पड़ता है और पचेन्द्रियों में भी पशुओं की अपेक्षा मनुष्य की रक्षा करने में सबसे ज्यादा श्रम करना पड़ता है। जीवत्व की दृष्टि से तो एकेन्द्रिय भी जीव है और पंचेन्द्रिय भी जीव है, परन्तु पंचेन्द्रिय को और उसमें भी मनुष्य की रक्षा करने में राग-द्वेष को अधिक मात्रा में जीतना पड़ता है। इसलिए समस्त प्राणियों में सबसे पहले मनुष्य रक्षा का पात्र है। परन्तु आज तो उलटी गङ्गा बह रही है। आज लोग एकेन्द्रिय जीव की रक्षा करने के लिए तो तैयार हो जाते हैं लेकिन पंचेन्द्रिय और मनुष्य की रक्षा करने में उपेक्षा बतलाते हैं। एक बकरे को छुड़ाकर पींजरापोल में भेज देना सरल है, इस कारण उसकी रक्षा करने के लिए लोग तैयार हो जाते हैं, मगर मनुष्य की रक्षा करने का अवसर आने पर विचार में पड़ जाते हैं। बकरे को पींजरापोल में भेज कर लोग अपनी जिम्मेवरी से छूट जाते हैं लेकिन विचार करो कि

राग-द्वेष को अधिक कहाँ जीतना पड़ता है? बकरे की रक्षा करने में अधिक राग-द्वेष जीतना पड़ता है या मनुष्य की रक्षा करने में? कदाचित् लोग मनुष्य के प्रति दया दिखलाते भी हैं तो पैसा-आधा पैसा देकर अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाते हैं। वे यह नहीं सोचते कि मनुष्य के प्रति हमारी गहरी जिम्मेवरी है। वास्तव में मनुष्य की दया किस प्रकार की जा सकती है और मनुष्य की दया करने की हमारे ऊपर कितनी जिम्मेवरी है, यह बात स्पष्ट करने के लिए एक सुना हुआ उदाहरण इस प्रकार है:—

कहते हैं, अमेरिका में दो मित्र गिरजाघर जा रहे थे। इस गिरजाघर के बाहर कुछ लूले लँगड़े भिखारी पड़े थे। इन लँगड़ों को देखकर एक मित्र को दया आई। दया तो दोनों के हृदय में उत्पन्न हुई थी मगर एक ने अपनी दया सफल करने के लिए जेब से कुछ पैसे निकालकर भिखारी को दे दिये। यह देखकर दूसरे ने कहा—तुमने इस लँगड़े भिखारी पर दया तो की, किन्तु यह तो भिखारी का भिखारी ही रहा! हृदय में दया उत्पन्न होने पर भी और पैसा देने पर भी भिखारी का भिखारीपन तो मिटा नहीं!

सुनते हैं, बम्बई, कलकत्ता आदि बड़े शहरों में लोग प्रायः अन्धों को पैसे देते हैं, आँख वालों को बहुत कम देते हैं। अतएव अनेक भिखारी अपने बालकों की आँखें इसीलिए फोड़ डालते हैं कि वह अन्धे हो जाएँगे तो उन्हें ज्यादा पैसे मिलेंगे।

दूसरे मित्र ने पैसा देने वाले से कहा—अगर हमारे अन्तःकरण में उस भिखारी के प्रति सचमुच अनुकम्पा हो तो हमें सिर्फ कुछ पैसे देकर ही छुटकारा नहीं पा लेना चाहिए, वरन् उसका भिखारीपन दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। भिखारी पर दया

करके तुमने पैसे का ममत्व त्याग किया है, सो तो ठीक है मगर तुमने सच्ची दया का परिचय नहीं दिया।

पहले मित्र को इस प्रकार कहकर दूसरा मित्र उस लँगड़े भिखारी को अपने घर ले गया और बनावटी पैर लगाकर उसे इस योग्य बना दिया कि वह चलने फिरने मे समर्थ हो गया। इसके बाद उसे कोई काम सिखलाकर ऐसा बना दिया कि फिर उसे भीख न माँगनी पड़े।

इस घटना पर विचार करो। सोचो कि दोनों में से किसकी अनुकम्पा अच्छी और ऊँची है? इस प्रश्न का यही निश्चित उत्तर मिलेगा कि जिसने राग-द्वेष को जीतने का विशेष पुरुषार्थ किया है, उसी की दया उच्च है। शास्त्र की दृष्टि से एकेन्द्रिय या पंचेन्द्रिय प्राणी में जीवत्व की अपेक्षा से कोई भेद नहीं है। परन्तु जितनी दया बड़े प्राणियों की की जाएगी, उतना ही अधिक राग-द्वेष जीतना पड़ेगा।

कहने का आशय यह है कि लोग राग-द्वेष को जीतने की बात तो करते हैं, मगर सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना होने पर ही माना जा सकता है कि राग-द्वेष पर विजय प्राप्त की गई है। ऊपर से राग-द्वेष को जीतने की बात करना और भीतर-भीतर क्रोध करना या द्वेष से जलना राग द्वेष जीतने का चिह्न नहीं है। आत्मा भीतर से भी शान्त हो और बाहर से भी शान्त हो तभी राग-द्वेष पर विजय पाना कहा जा सकता है।

एक आदमी ने तीन आदमियों को गाली दी। गाली सुनकर एक ने सोचा—मैं यही नहीं जानता कि गाली किसे कहते हैं? गाली देने वाला मुझे गाली नहीं, किन्तु उपदेश दे रहा है। वह मुझे लुच्चा

कहता है, अगर मुझमें लुच्चापन है तो मुझे उसका त्याग कर देना चाहिए और सचमुच मुझमें लुच्चापन है और यह आदमी उसकी निन्दा करता है तो क्या बुरा करता है? इस प्रकार विचार करके पहला मनुष्य शान्त रहा। उसके हृदय में लेशमात्र भी द्वेष उत्पन्न नहीं हुआ।

दूसरे आदमी ने कहा—यह मुझे गालियाँ दे रहा है। यह कहकर उसने गाली देने वाले को दण्ड दिया।

तीसरे आदमी को गालियाँ असह्य मालूम हुईं। पर उसने सोचा—गाली देने वाला बलवान् है और मैं निर्बल हूँ। मैं उससे कुछ कहूँगा तो वह मुझे मार देगा।

इन तीन तरह के मनुष्यो मे से तुम किसे अच्छा और किसे बुरा कहोगे? इस प्रश्न के उत्तर मे यह कहा जायगा कि पहले मनुष्य ने पूरी तरह अहिंसा का पालन किया है और गाली के विषय मे राग-द्वेष जीत लिया है, जब कि तीसरे आदमी ने अहिंसा का सिर्फ ढोंग ही किया है। उसमे वास्तविक अहिंसा नहीं है। उसने दिखावटी तौर पर क्रोध को जीता है, दरअसल नहीं। उसके दिल मे क्रोध है, बदला लेने की भावना है, पर अशक्ति के कारण ही वह चुप रहा है। इस प्रकार की अहिंसा या क्षमा तमोगुणी है। पहले मनुष्य ने जिस अहिंसा का परिचय दिया वह अहिंसा सतोगुणी है।

हृदय में राग-द्वेष उत्पन्न न होना, अपूर्व शान्ति रहना सतोगुणी क्षमा है। हृदय में जब सतोगुणी क्षमा रहती है तभी सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पर्याय उत्पन्न होते हैं। अतएव अगर तुम सिद्धान्त के अनुसार राग-द्वेष को जीतना चाहते हो तो बाहरी तौर पर ही राग-द्वेष को जीतने में मत लगे रहो, पर भीतर

की जाने वाली प्रवृत्ति। इन पाँच कारणों से जीवात्मा कर्म-परमाणुओं को ग्रहण करते हैं। अतएव इन कर्मबंधन के कारणों को दूर करना उचित है।

राग और द्वेष का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है। किसी भी वस्तु का स्वरूप समझ लेने के बाद ही उसे स्वीकार किया जाता है या त्यागा जाता है।

राग और द्वेष कर्म के बीज हैं और कर्म-बीज दुःखोत्पत्ति का कारण है। यह बात हम जान गये हैं तो अब यह विचारना चाहिए कि राग और द्वेष किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं और उन्हे दूर करने से क्या लाभ होता है ?

राग-द्वेष तथा मिथ्यादर्शन को जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यही प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से किया है।

भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कर्मग्रंथि भेदने का तथा शाश्वत सुख पाने का मार्ग बतलाया है। राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त कर ले तो उसमें विद्यमान अनन्त शक्ति-सामर्थ्य प्रगट हो जाता है। जीवात्मा में अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तचारित्र, अनन्तवीर्य आदि विद्यमान हैं। किन्तु कर्म के आवरण के कारण आत्मा की शक्तियाँ तिरोहित हो रही हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि अमूर्त आत्मा मूर्त्त कर्मों को किस प्रकार ग्रहण करता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे दीपक वत्ती के द्वारा तेल को ग्रहण करके, अपनी उष्णता से उसे ज्वाला के रूप में परिणत करता है उसी प्रकार जीवात्मा कषाय सम्बन्धी विकारों द्वारा कर्मरूप परिणत होने योग्य परमाणुओं को

ग्रहण करता है और उनके कर्मरूप परिणमन में निमित्त बनता है। आत्मा के प्रदेशों के साथ इन कर्म परमाणुओं का सम्बन्ध होना ही कर्मबन्ध कहलाता है।

यद्यपि आत्मा स्वभावतः अमूर्त्त है तथापि अनादिकाल से कर्म से संबद्ध है। अतएव मूर्त्त सरीखा होकर वह कर्मवर्गणा के परमाणुओं को ग्रहण करता है। यह कर्मबन्ध आठ प्रकार का है। वह इस प्रकार—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म—विशेष बोधरूप ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म।

(२) दर्शनावरणीय कर्म—वस्तु के सामान्य बोधरूप दर्शन को ढँकने वाला कर्म।

(३) वेदनीय कर्म—सुख और दु ख का अनुभव कराने वाला कर्म।

(४) मोहनीय कर्म—श्रद्धा और चारित्र का नाश करने वाला कर्म।

(५) आयुष्य कर्म—चार गतियों में भ्रमण कराने वाला कर्म।

(६) नामकर्म—गति, शरीर, आकृति, वर्ण आदि निश्चित करने वाला कर्म।

(७) गोत्रकर्म—उच्च-नीच गोत्र (कुल) में जन्माने वाला कर्म।

(८) अन्तरायकर्म—दान, लाभ, भोग आदि प्राप्ति मे विघ्न डालने वाला कर्म।

इन आठ प्रकार के कर्मबन्धनों से मुक्त होने के लिए जीवात्मा को राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त करना पड़ता है। क्योंकि जब तक जीव इन्हें नहीं जीत लेता तब तक वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना में उद्योगशील नहीं होता। जब

आत्मा इस रत्नत्रय की आराधना में उद्योगशील होता है तभी वह कर्मग्रंथि तोड़ने मे समर्थ बन सकता है।

कर्मग्रन्थि को तोड़ने के लिए सर्वप्रथम मोहनीयकर्म को जीतने की खास आवश्यकता है। मोहनीय कर्म का स्थान सब कर्मों में उच्च है। जैसे राजा को वश में कर लेने पर उसका दल-बल सहज ही वश में हो जाता है, उसी प्रकार कर्मों के इस राजा (मोहनीय) को जीत लेने पर शेष कर्म अनायास ही जीते जा सकते हैं।

जिस वृक्ष की जड़ सूख जाती है, पानी सींचने पर भी वह उग नहीं सकता। इसी प्रकार कर्मोत्पत्ति के मूल कारण मोहनीय-कर्म के नष्ट हो जाने पर अन्य कर्म उत्पन्न नहीं होते।

आठ कर्मों मे चार घाती हैं और चार अघाती है। घाती कर्म आत्मा के मूल गुणों का घात करते हैं, अतएव उन्हें सर्वप्रथम जीतना आवश्यक है। मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय, यह चार कर्म घाती हैं। ज्यों-ज्यों इन कर्मों को आत्मा जीतता जाता है त्यो-त्यों उसके गुणों का विकास होता जाता है। कर्मों के विनाश के साथ आध्यात्मिक विकास होता रहता है। कर्मो का जब सम्पूर्ण क्षय हो जाता है तभी परमपद—मोक्ष की प्राप्ति होती है। जब तक थोड़ासा भी योग अर्थात् मानसिक, वाचिक या कायिक व्यापार जारी रहता है तब तक पूर्ण आध्यात्मिक विकास नहीं हो पाता। चौदहवें गुणस्थान में अयोगीपन होता है। बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में योग मौजूद रहता है। घाती कर्मों के क्षय के साथ ही केवलज्ञान और केवलदर्शन का आविर्भाव होता है। इस अवस्था में भी योग की विद्यमानता के कारण ऐर्यापथिक (ईरियावहिया) कर्म का आस्रव होता है। मगर वह कर्म प्रथम

समय मे बँधता है, दूसरे समय में ही वेदन हो जाता है। तीसरे समय में तो उसकी निर्जरा हो जाती है।

जो वीतराग और वीतद्वेष है वह शोकरहित है। जैसे कमल की पांखुड़ी जल में रहती हुई भी जल से लिप्त नहीं होती उसी प्रकार वीतराग संसार में रहते हुए भी सांसारिक दुःखप्रवाह से लिप्त नहीं होते। शब्दादि विषय कैसे भी क्यों न हों, उनके मन को लेशमात्र भी न भेद सकते हैं और न विकृत ही कर सकते हैं।

जिस प्रकार जले हुए बीज से अङ्कुर उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार नष्ट हुए कर्म-बीजों से भवरूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता।

वीतराग और वीतद्वेष पुरुष किस प्रकार कर्मों का नाश करते हैं, यह बतलाते हुए शास्त्र मे कहा गया है कि—

अपने राग-द्वेष तथा मोहरूप संकल्पों का स्वरूप विचारने में उद्यत उन वीतराग पुरुष को क्रमशः समता प्राप्त होती है। फिर विषयों का संकल्प हट जाने पर उनकी काम-गुणों की तृष्णा भी निवृत्त हो जाती है।

इस प्रकार वीतराग होकर कृतकृत्य हुए उन पुरुष के ज्ञान-दर्शन को आच्छादित करने वाले तथा अन्य अन्तरायक कर्म क्षण-भर में क्षीण हो जाते हैं और तब वह सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी बन जाते हैं।

बहत्तर-तेहत्तरवां बोल।

शैलेशी तथा निष्कर्मता

वीतराग पुरुष किस प्रकार मुक्तदशा प्राप्त करते है, इस विषय में भगवान् महावीर ने फर्माया है :—

अह आउयं पालइत्ता अन्तोमुहुत्तद्धावसेसाए जोगनिरोहं करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पडिवाइं सुक्कज्झाणं झायमाणे तप्पढमयाए मणजोगं निरुंभइ, वइजोगं निरुंभइ, कायजोगं निरुंभइ, आणपाणुनिरोहं करेइ, ईसि पंचहस्सक्खरुच्चारणद्धाए य णं अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टिसुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं आउयं नामं गोत्तं च एए चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ ॥७२॥

तओ ओरालियतेयकम्माइं सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढिपत्ते अफुसमाणगई उड्ढं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ, बुज्झइ, जाव अन्तं करेइ ॥७३॥

शब्दार्थ

(वीतराग पुरुष) आयु पूर्ण करने मे जब अन्तर्मुहूर्त्त जितना समय शेष रहता है तब योग का निरोध करते है और अप्रतिपाती शुक्लध्यान धर कर सबसे पहले मनोयोग का निरोध करते है, तदनन्तर क्रमशः वचनयोग और काययोग को रोकते है और फिर श्वासोच्छ्वास का निरोध कर देते है। तत्पश्चात् जितने समय मे पाँच लघु अक्षर बोले जाते है, उतने समय की स्थिति भोग कर तथा शुक्लध्यान के समुच्छिन्नक्रिया नामक चौथे पाये का ध्यान करके वेदनीय कर्म, आयुकर्म, नामकर्म और गोत्रकर्म—इन शेष रहे हुए चार अघाती कर्मों का एक ही साथ क्षय कर डालते है ॥७२॥

उसके बाद औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरो का त्याग करके, सरलश्रेणी प्राप्त करके, ऊर्ध्व अक्रममान (सीधी) गति करते हैं और साकारउपयोग से युक्त होकर सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होते है ॥७३॥

व्याख्यान

एकहत्तरवें बोल के साथ बहत्तरवें और तेहत्तरवे बोल का घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः इन अन्तिम दोनों बोलो का एक ही साथ विचार किया जाता है।

७१ वें बोल से ७३ वे बोल मे राग-द्वेष तथा मिथ्यादर्शन के त्याग से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय मे विशेष विचार किया गया है।

संसार का मूल कारण कर्म है और कर्म का मूल कारण राग-द्वेष है, अतएव राग-द्वेष को निर्मूल कर देने से संसार-भ्रमण का अन्त होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार राग-द्वेष तथा मिथ्यादर्शन को जीतने से परंपरा से तो मोक्ष की प्राप्ति होती है परन्तु आरम्भ में ही तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। तेरहवाँ गुणस्थान मोक्ष-महल की अन्तिम सीढ़ी है। वहाँ पहुँचने के बाद अवश्य ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

बारहवें और तेरहवें गुणस्थान का वर्णन लगभग समान है, क्योंकि दोनों गुणस्थान क्षायिक भाव के हैं। मोह का क्षय होने पर ही बारहवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। अतएव आत्मा का वहाँ से पतन नहीं होता, किन्तु तेरहवें चौदहवें गुणस्थान पर आरूढ़ होकर आखिर मोक्ष प्राप्त करता ही है। इसीलिए राग-द्वेष जीत लेने के बाद क्या करना चाहिए, इस सम्बन्ध मे कोई प्रश्न नहीं किया गया है, क्योंकि रागादि को जीतने वाला मोक्ष प्राप्त करता ही है और इसी कारण यही अन्तिम प्रश्न है।

राग-द्वेष पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करने से केवलज्ञान प्राप्त होता है। फिर तेरहवें गुणस्थान की जघन्य या उत्कृष्ट – जितनी स्थिति होती है, उसमें से अन्तर्मुहूर्त्त आयु शेष रहने पर वे वीतराग पुरुष योग का निरोध करते हैं। सबसे पहले अप्रतिपाती शुक्लध्यान का तीसरा चरण धारण करके पहले-पहल मनोयोग का निरोध करते हैं। मन संज्ञी पंचेन्द्रिय को होता है। इस मनोयोग में जघन्य योग समझना चाहिए। मनोयोग के असंख्यात भेद करके प्रत्येक समय में प्रत्येक भेद का निरोध करते हैं और असंख्यात समयों मे सम्पूर्ण मनोयोग का निषेध हो जाता है। वचनयोग में भी जघन्य योग समझना चाहिए। इसी प्रकार जघन्य काययोग के असंख्यात भेद करके असंख्यात समयों में उसका पूर्ण निरोध करते हैं। इसके पश्चात् पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने समय की स्थिति भोगकर समुच्छिन्नक्रिया नामक शुक्लध्यान

के चतुर्थ भेद का आलम्बन करके शेष रहे हुए वेदनीयकर्म, आयु-कर्म, नामकर्म और गोत्रकर्म का क्षय करते है।

मोहनीय कर्म का क्षय होने से तीन घाती कर्म तो नष्ट हो जाते है, पर चार अघाती कर्म बाकी बच जाते है। इन चारों का एक साथ क्षय करके औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर का त्याग करके, सरलश्रेणी प्राप्त होकर 'अफुसमानगति' से जाते है। अर्थात् सिद्ध भगवान् टेढ़ी गति नहीं करते—सीधी गति करते है। 'अफु-समानगति' का अर्थ यह नहीं है कि वे आकाश के प्रदेशों का स्पर्श नहीं करते। टेढ़ी मेढ़ी गति न करके सीधी गति करना ही इसका अर्थ है।

टेढ़ी-तिर्छी गति कर्म के निमित्त से होती है। वीतराग पुरुष जब मुक्त दशा प्राप्त करते हैं, तब उनके सभी कर्म नष्ट हो चुकते है। अतएव वे सीधी और साकार उपयोगपूर्वक गति करते है।

उपयोग के दो प्रकार है—साकार-उपयोग और निराकार-उपयोग। साकार-उपयोग ज्ञान का होता है और निराकार-उपयोग दर्शन का होता है। कुछ आचार्य ज्ञान और दर्शन का उपयोग एक ही साथ होना कहते है, परन्तु शास्त्र के पाठ से स्पष्ट सिद्ध होता है कि दोनों उपयोग एक साथ प्रयुक्त नहीं होते। सिद्ध होने वाले आत्मा ज्ञानो-पयोग से सिद्ध होते है। ज्ञान और दर्शन के उपयोग का समय एक ही नहीं हो सकता। दोनों का उपयोग भिन्न-भिन्न समय मे होता है। अतएव ज्ञानोपयोग में ही सिद्ध होते है।

साकार उपयोग मे सीधी गति करके मुक्तात्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर परिपूर्ण अवस्था प्राप्त करके निरावरण धर्म प्राप्त करते हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि आत्मा यदि अकर्मा अर्थात् कर्मरहित बन गया है तो फिर गति किस प्रकार कर सकता है? अगर आत्मा गति करता है तो गति का कारण अवश्य होना चाहिए अर्थात् कर्म होने चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि गति करना तो आत्मा का स्वभाव है। अपने स्वभाव से आत्मा सीधी गति करता है, टेढ़ी-तिर्छी गति कर्म के कारण होती है। मुक्तात्मा सीधी गति करता है और ऐसा करना आत्मा का स्वभाव है।

उदाहरणार्थ—दीपक की शिखा हमेशा ऊपर ही जाती है, क्योंकि यही उसका स्वभाव है। दीपक की शिखा को नीचे की ओर करना हो तो दूसरे प्रयोग से ही वह सम्भव है। इसी प्रकार आत्मा स्वभाव से सीधी गति करता है और कर्म के निमित्त से टेढ़ी-तिर्छी गति होती है।

लेप वाला तूंबा लेप हटते ही ऊपर की ओर आता है। जब तक उस पर लेप चढ़ा रहता है तब तक वह पानी में डूबा रहता है। इसी प्रकार आत्मा जब तक कर्म युक्त रहता है तब तक टेढ़ी गति करता है। जब कर्मरहित हो जाता है तो सीधी ही गति करता है। कहने का आशय यह है कि आत्मा में गति करने का स्वभाव है। आत्मा स्वभावतः ऊर्ध्वगमन ही करता है। अतएव आत्मा कर्मरहित होने पर भी सीधी गति करता है।

अद्वैतवादी लोग सब जीवों में एक ही आत्मा होना कहते हैं, परन्तु उनका यह कथन युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। अगर आत्मा एक ही हो तो एक आत्मा के सिद्ध होने पर समस्त जीवात्माओं को सिद्ध मानना पड़ेगा। इसी प्रकार एक के मुक्त होने पर

सभी का मुक्त होना मानना पड़ेगा। पर वास्तव में ऐसा नहीं होता। सब में एक ही आत्मा है, यह कथन पूर्वोक्त कारणों से तथा अन्य अनेक कारणों से युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। अतएव सबका आत्मा अलग-अलग है, यही मानना उचित है।

शास्त्रकारों ने राग द्वेष और मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त करने का फल परंपरा से सिद्धिगति प्राप्त होना बतलाया है। जो अवस्था सिद्ध भगवान् ने प्राप्त की है, वही अवस्था प्राप्त करने का हमारा भी प्रयास होना चाहिए। सिद्धिगति प्राप्त करने का दृष्टि-बिन्दु सामने रखकर सतत अभ्यास किया जाय तो सहज ही वह प्राप्त हो सकती है। जिन महापुरुषों ने यह अवस्था प्राप्त की है, उन्होंने भी अभ्यास करते-करते ही प्राप्त की है। जो महापुरुष सिद्ध अवस्था प्राप्त करने का अभ्यास कर रहे हैं, जिन्होंने राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर ली है और जो देह में रहते हुए भी विदेह की भाँति रहते हैं, उन महापुरुषो द्वारा बतलाये मार्ग पर चलने से अपन भी वह अवस्था प्राप्त कर सकते हैं। हाँ, उस मार्ग पर चलने का पुरुषार्थ करना अपना काम है। पुरुषार्थ करते रहने से जब सिद्धगति प्राप्त हो जाती है, तब कोई भी काम करना शेष नहीं रहता।

मार्गदर्शक मार्ग प्रदर्शित कर देता है, मगर उस मार्ग पर चलने का काम तो प्रवासी को ही करना पड़ता है। केवलज्ञानी महापुरुषों ने मोक्ष का मार्ग हमें बतलाया है। उस पर चलने का पुरुषार्थ हमे ही करना पड़ेगा। पुरुषार्थ किये बिना सिद्धि नहीं मिल सकती।

भगवान् महावीर का सिद्धान्त ही उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम का है। श्रीउपासकदशांगसूत्र के सकडालपुत्र

के अध्ययन में इसी सिद्धान्त का महत्व प्रदर्शित किया गया है। गोशालक का मत यह है कि उत्थान आदि कुछ भी नहीं है जो होनहार है वही होता है। इस मत के विरुद्ध भगवान् का सिद्धान्त यह है कि उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम आदि द्वारा आत्मा सिद्ध होता है। संक्षेप में, भगवान् महावीर पुरुषार्थवादी थे और गोशालक नियतिवादी था।

एक बार भगवान् महावीर ने सकडालपुत्र से कहा—आत्मा उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम से सिद्ध होता है। इस कथन के उत्तर में सकडालपुत्र ने कहा कि उत्थान आदि द्वारा आत्मा सिद्ध नहीं होता वरन् सिद्ध होने वाला हो तो हो जाता है।

सकडालपुत्र पहले गोशालक का श्रावक था। इस कारण उसने गोशालक के मत का समर्थन किया। एक दिन सकडालपुत्र ने अपनी दुकान में से मिट्टी के वर्त्तन बाहर निकाले और धूप में सुखा दिये। तब भगवान् महावीर ने उससे कहा—हे सकडाल! यह मिट्टी के वर्त्तन किस तरह बने है?

सकडालपुत्र ने वर्त्तनो के बनने का क्रम बतलाते हुए कहा—जंगल से मिट्टी लाया। फिर उसमें दूसरी चीजो का मिश्रण करके मिट्टी का पिड बनाया। उसे चाक पर चढ़ाया और तब वर्त्तन बनाये हैं।

भगवान् ने कहा—यह वर्त्तन उत्थान आदि से ही बने हैं न?

सकडाल—नहीं, होनहार ही होता है।

भगवान्—अगर कोई तुम्हारे वर्त्तनों को फोड़ डाले तो?

सकडाल—मेरे वर्तन फोड़ने वाले को मैं विना मारे नहीं छोड़ूंगा। मैं उसके हाथ-पैर तोड़ दूंगा।

भगवान्—सकडाल! तुम उसे इतना दण्ड क्यों दोगे? तुम्हारे हिसाब से तो होनहार ही होता है, फिर तुम दण्ड क्यों दोगे? तुम्हे अपने मंतव्य के अनुसार तो यही मानना चाहिए कि लकड़ी के संयोग से वर्तन फूटने वाले थे सो फूट गए।

भगवान् का यह कथन सुनकर सकडालपुत्र विचार में पड़ गया। इतने मे ही भगवान् ने उसके सामने दूसरा उदाहरण उपस्थित करते हुए कहा—हे सकडालपुत्र! कल्पना करो, तुम्हारी पत्नी सिंगार करके बाहर निकली और कोई पुरुष उस पर बलात्कार करना चाहता है तो तुम क्या करोगे?

सकडालपुत्र ने कहा—मैं ऐसे दुष्ट पुरुष के नाक-कान काट लूंगा, यहाँ तक कि उसे प्राणदण्ड देने का भी प्रयत्न करूँगा।

भगवान्—हे सकडालपुत्र! तुम्हारे मत के अनुसार तो होनहार ही होता है। फिर तुम्हें उस दुष्ट पुरुष को दण्ड नहीं देना चाहिए।

भगवान की युक्तिसंगत वाणी सुनकर सकडालपुत्र को बोध हो गया। उसने भगवान् से कहा—'भगवन्! मैं धर्म श्रवण करना चाहता हूँ।' भगवान् ने उसे धर्म का श्रवण कराया। भगवान् की धर्मवाणी सुनकर वह बारह व्रतधारी श्रावक बन गया। जब तक सकडालपुत्र धर्मतत्त्व को समझा नही था तब तक उसमें मताग्रह था। जब उसे वास्तविक धर्मतत्त्व का बोध हुआ तो उसने नियतिवाद का त्याग करके पुरुषार्थवाद का सत्यधर्म स्वीकार किया।

सकडालपुत्र कुम्भार था, फिर भी भगवान् ने उसे श्रावक बनाया। क्या ऐसा करना ठीक था ? उन्होंने कुम्भार को श्रावक बनाकर संसार के सामने आदर्श उपस्थित किया कि कोई किसी भी वर्ण या जाति का क्यो न हो, शरीर से छोटा या मोटा क्यो न हो, मुझे किसी के प्रति, किसो भी प्रकार का पक्ष नही है। मै सबका कल्याण चाहता हूँ। भगवान् के इस कथन पर तुम भी थोडा विचार करो।

गोशालक ने सुना कि सकडालपुत्र ने मेरा मत त्याग दिया है। उसे फिर अपने मत का अनुयायी बनाने के लिए गोशालक उसके पास पहुँचा। गोशालक ने विचार किया—सकडालपुत्र तो महावीर भगवान का पक्का श्रावक बन गया है। तब उसने भगवान् की प्रशंसा करना आरम्भ किया।

गोशालक ने सकडालपुत्र से कहा—'क्या यहाँ महामाहण, महायान, महानिर्यामिक, महागोप तथा महासार्थवाह आये थे ?'

सकडालपुत्र ने गोशालक से इन विशेषणो का अर्थ पूछा। गोशालक ने अर्थ समझाया। तब सकडालपुत्र ने कहा—तुमने मेरे गुरु की प्रशंसा की है, इस कारण मेरी दुकान में ठहरो और पाट आदि जो चाहिए सो ले लो। यह सब मैं तुम्हें गुरु मानकर नही देता हूँ वरन् अपने गुरु भगवान् महावीर की प्रशंसा करने के कारण दे रहा हूँ।

कहने का आशय यह है कि भगवान् महावीर का सिद्धान्त उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम का है। 'जो होनहार है सो होगा' यह नियतिवाद गोशालक का मत है। हम भगवान्

महावीर के उपासक है। अतएव सिद्धगति प्राप्त करने के लिए हमें पुरुषार्थ करना चाहिए।

भगवान् महावीर का सिद्धान्त भवितव्यता-नियतिवाद का एकान्त निषेध भी नहीं करता। भगवान् के सिद्धान्त का मन्तव्य यह है कि भाग्य के भरोसे बैठकर पुरुषार्थ मत छोड़ो। पुरुषार्थ करते रहो। पुरुषार्थ करने पर भी जो होना होगा सो होगा। मगर होनहार के भरोसे पुरुषार्थ त्याग देना उचित नहीं है। पुरुषार्थ के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती। पुरुषार्थ विना ही सिद्धगति प्राप्त हो सकती तो शास्त्र की या धर्मोपदेश की क्या आवश्यकता थी? जो कार्य आप ही हो जाय उसके लिए श्रम करने का उपदेश क्यों दिया जाय? वास्तव मे प्रत्येक कार्य पुरुषार्थ के अधीन है, अतएव पुरुषार्थ करते रहना चाहिए।

७८

उपसंहार ।

सम्यक्त्वपराक्रम नामक २६ वाँ अध्ययन समाप्त हो रहा है। इस अध्ययन की समाप्ति करते हुए कहा गया है—

मूलपाठ

एस खलु सम्मत्तपरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेणं भगवया महावीरेणं आघविए, पन्नविए, परूविए, दंसिए, उवदंसिए ॥७४॥ त्ति बेमि । इअ सम्मत्तपरक्कमे अज्झयणे समत्ते ।

शब्दार्थ

इस सम्यक्त्वपराक्रम नामक अध्ययन का अर्थ श्रमण भगवान् महावीर ने सामान्य में विशेष और विशेष मे सामान्य निरूपण करके हेतु फल आदि के द्वारा प्रकाशित किया है, उसका स्वरूप बतलाया है, उपदेश दिया है, दृष्टान्त आदि द्वारा समझाया है और उसका उपसंहार किया है।

व्याख्यान

इस सूत्रपाठ के साथ ही यह अध्ययन समाप्त होता है। इस अध्ययन में सम्यक्त्व के विषय में पराक्रम करने को कहा गया है। यह बतलाया गया है कि सम्यक्त्वपूर्वक किये गये पराक्रम का फल क्या होता है? समकित अर्थात् सच्ची श्रद्धा होने पर ही सब पराक्रम सार्थक होते हैं। जैसे एक का अङ्क हो तो ही शून्य का महत्व होता है—अकेले शून्य का नहीं, इसी प्रकार समकितपूर्वक किया गया पराक्रम ही मुक्ति के लिए सार्थक होता है। कहा भी है—

एका से शून्य दस गुनी, एका बिन सब शून्य।
जा घर एका पाइए, बांका भारी पुण्य॥

अर्थात्—एक (१) अंक पर शून्य (०) हो तो वह एक को दस बनाता है, पर अंक के बिना अकेले शून्य का कोई महत्व नहीं है। इसी प्रकार मोक्षप्राप्ति के लिए किये गये पराक्रमों का मूल्य तभी है जब वह पराक्रम सम्यक्त्वपूर्वक हो। समकित के अभाव में सभी पराक्रम व्यर्थ है।

एक का अंक होने पर भी इस बात का खास तौर पर ध्यान रखना पड़ता है कि शून्य उसके आगे लगाया जाय या पीछे? इसी प्रकार सम्यक्त्व होने पर भी इस बात का विचार करना आवश्यक है कि पराक्रम किस प्रकार किया जाय? इस अध्ययन में यही विचार किया गया है कि सम्यक्त्व में किस प्रकार पराक्रम करना चाहिए। श्रमण भगवान् महावीर ने अर्थरूप से यह अध्ययन फर्माया है और गणधरों ने सूत्ररूप में इसे ग्रथित किया है। इसमें जो कुछ भी कहा गया है वह सम्यक्त्व में पराक्रम करने के

लिए ही। सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद किस प्रकार पराक्रम किया जाय, जिससे सरलतापूर्वक मोक्ष प्राप्त हो सके, यही इस अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है।

प्रत्येक धर्मक्रिया का मूल सम्यक्त्व है। अन्य क्रियाएँ उसकी शाखाएँ हैं। मूल के अभाव में शाखाएँ नहीं हो सकतीं। साथ ही मूल सूख जाने पर शाखाएँ भी सूख जाती हैं। अतएव मूल का सुरक्षित होना आवश्यक है।

सम्यक्त्व का सामान्य अर्थ है—श्रद्धा। धर्मक्रिया करने के लिए सर्वप्रथम श्रद्धा होना आवश्यक है। श्रद्धा होने पर ही धर्म-क्रिया सफल होती है। इसीलिए शास्त्र में कहा है :—

सद्धा परमदुल्लहा।

अर्थात्—श्रद्धा अत्यन्त दुर्लभ है। संसार में अनेक वस्तुएँ दुर्लभ मानी जाती हैं परन्तु शास्त्रकारों ने मुख्यरूप से चार वस्तुएँ दुर्लभ बतलाते हुए कहा है—

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥

अर्थात्—संसार में प्राणियों को इन चार वस्तुओं की प्राप्ति परम दुर्लभ है :—(१) मनुष्यत्व (२) धर्मश्रवण (३) धर्मश्रद्धा और (४) संयम में पराक्रम।

संसार में सम्पत्ति पाना, सत्ता पाना आदि दुर्लभ माना जाता है, परन्तु शास्त्रकार फर्माते हैं कि यह दुर्लभ मानी जाने वाली वस्तुएँ तो सुलभ हो सकती हैं परन्तु मनुष्यदेह मिल जाना और फिर उसमें मनुष्यत्व प्रकट होना, सत्यधर्म का श्रवण, सत्यधर्म के प्रति श्रद्धा और संयम में पराक्रम, यह चार वस्तुएँ तो अत्यन्त ही दुर्लभ हैं।

सद्धर्म पर जब सच्ची श्रद्धा उत्पन्न होती है तो धर्म के लिए आत्मसमर्पण करने की भावना का भी उद्भव होता है। जिस कार्य पर श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है वह भले ही कठिन हो, फिर भी उसे सम्पन्न किया जाता है। इसके विपरीत जिस पर श्रद्धा नहीं होती वह कार्य सरल होने पर भी भार मालूम होता है। अतएव जो कार्य करना हो, उसके प्रति दृढ़ श्रद्धा होना अत्यावश्यक है। श्रद्धापूर्ण कार्य के लिए किसी की प्रेरणा की भी आवश्यकता नहीं रहती। उदाहरणार्थ, पुत्र का विवाह करने के लिए कौन प्रेरणा करता है? पुत्र के विवाह सम्बन्धी कार्यों में कठिनाई पेश आती है, परन्तु उस कार्य मे श्रद्धा होने से दूसरे की प्रेरणा के विना ही वह कठिन कार्य सरलतापूर्वक किया जाता है। जब व्यवहार में श्रद्धा की आवश्यकता है तो धर्म में श्रद्धा की आवश्यकता क्यों न होगी? व्यावहारिक कार्य भी श्रद्धा के अभाव में सम्पन्न नहीं होते तो मोक्ष सम्बन्धी कार्य विना श्रद्धा के किस प्रकार सम्पन्न हो सकते हैं? अतएव भगवान् का कथन ध्यान में रखकर सम्यक्त्वपूर्वक मोक्ष के लिए पराक्रम करना चाहिए। अगर हम पूर्णरूप से भगवान् की वाणी को आचरण में नहीं ला सकते तो भी शक्ति के अनुसार तो उसे स्वीकार करना ही चाहिए। भगवान् की सम्पूर्ण वाणी तो गणधर भी नहीं धारण कर सकते। वे भी भगवद् वाणी का कुछ अंश ही ग्रहण कर पाते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे लिए तो यह सम्भव ही कैसे हो सकता है? अतः भगवान् की वाणी पर हमें यथाशक्ति अमल करना चाहिए। हम अधिक न कर सकें तो कम से कम उस वाणी पर श्रद्धा तो रख ही सकते है। आचरण समान न होने पर भी श्रद्धा तो चौथे गुणस्थान और तेरहवें गुणस्थान वाले की समान ही हो सकती है। पक्षी अपनी चोंच में समुद्र नहीं भर सकते, मगर उस पर श्रद्धा तो सभी पक्षी रख सकते हैं। इसी प्रकार

अगर तुम भगवद्-वाणी का यथावत् पालन नहीं कर सकते तो उस पर श्रद्धा रक्खो और जितना बन सके उतना पालन करो।

प्रश्न किया जा सकता है कि हमें किस धर्म पर श्रद्धा रखनी चाहिए ? आप जो कहते हैं वही दूसरे लोग भी कहते हैं। ऐसी दशा में किस धर्म पर श्रद्धा रखना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पाठशालाएँ अलग-अलग होने पर भी कुछ बातें ऐसी होती हैं जो प्रत्येक पाठशाला में एक समान मानी जाती हैं। उदाहरण के लिए—पाँच और पाँच दस होते हैं, यह बात प्रत्येक पाठशाला में समान रूप से सिखलाई जाती है। अन्य बातों में मतभेद हो सकता है मगर इसमें किसी प्रकार का मतभेद सम्भव नहीं है। इसी प्रकार वीतराग भगवान् के कहे हुए कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो सबको समानरूप से मान्य हैं। उनके विषय में किसी का मतभेद नहीं है। दूसरे जो सिद्धान्त हैं उनकी अन्य मतों के सिद्धान्तों से तुलना करके देखो और विवेक-बुद्धि द्वारा उन पर विचार करो। तुम्हें स्पष्ट ज्ञान हो जायगा कि वीतराग भगवान् का कथन ही यथार्थ है। वीतराग भगवान् के कथन पर ही श्रद्धा रखनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य मतों में भी अगर कोई अच्छी बात है तो वह भी अपने लिए ग्राह्य है। दूसरों के नय की उत्थापना न करके अपने नय की स्थापना करना ही स्याद्वाद कहलाता है। स्याद्वाद सातों नयों को स्वीकार करता है। वह सातों का संग्रह करके यथार्थ वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करता है। स्याद्वाद किसी नय का निषेध नहीं करता। इससे विपरीत अन्य लोग कोई एक बात पकड़ बैठते हैं और दुराग्रह करते हैं। जैनदर्शन किसी बात का दुराग्रह नहीं करता। वह सबकी दृष्टि का यथोचित समन्वय करके पदार्थ का निरूपण करता है। अन्य मत जब पदार्थ का निरूपण एक ही दृष्टि

से करते है, तब जैनदर्शन को सभी दृष्टियाँ मान्य हैं। यह बात समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। इससे जैनधर्म की विशालता और मौलिकता का पता चलेगा—

किसी गाँव मे एक हाथी आया। उसे देखने के लिए गाँव के लोग जमा हो गए। उस गाँव में कुछ अन्धे भी रहते थे। वे भी हाथी देखने चले। रास्ते में किसी ने उनसे कहा—तुम्हारे आँखें नहीं हैं, हाथी कैसे देख सकोगे? अन्धो ने कहा—हम हाथ फेरकर हाथी देख लगे।

अन्धे हाथी के पास पहुँचे और हाथ फेरकर उसे देखने लगे। एक अन्धे के हाथ में हाथी का दाँत आया। वह कहने लगा—मै समझ गया, हाथी कैसा होता है! हाथी मूसल जैसा होता है।

दूसरे अन्धे के हाथ में हाथी की सूंड आई। वह पहले अंधे से कहने लगा—तेरा कहना गलत है। हाथी मूसल जैसा नहीं, कोट की बाँह सरीखा होता है।

तीसरे अन्धे के हाथ में हाथी का पैर आया। उसने कहा—तुम दोनो झूठे हो। हाथी खम्भा सरीखा है।

चौथे के हाथ हाथी का पेट लगा। वह बोला—तुम तीनो झूठ कहते हो। हाथी तो कोठी सरीखा होता है।

पाँचवें अन्धे के हाथ में हाथी के कान आये। वह बोला—तुम सभी झूठे हो। हाथी तो सूप (छाजला) सरीखा है।

इस प्रकार और भी अन्धे एक-दूसरे को झूठा कहने लगे और आपस में झगड़ने लगे। इतने में वहाँ एक आँख वाला मनुष्य आ पहुँचा। आँख वाले ने उन अन्धों से कहा—तुम लोग आपस

में लड़ते क्यों हो ? तुम सब एक-एक अंश में सही कहते हो। पर जब सबकी मान्यताओं का समन्वय करोगे तभी हाथी का परिपूर्ण स्वरूप समझ में आएगा।

आखिरकार उस आँख वाले पुरुष ने उन अन्धों को हाथी के एक ही अंग को हाथी मान लेने से कैसी भ्रमणा उत्पन्न होती है, यह बात समझाई और यह भी समझाया कि किस प्रकार सबके मन्तव्य का समन्वय करने से पूर्ण वस्तु का पता चलता है।

इस दृष्टान्त का सार यह है कि जो व्यक्ति अन्धों की तरह वस्तु के एक अंश को स्वीकार करके अन्य अंशों का सर्वथा खंडन करता है और एक ही अश को पकड रखने का आग्रह करता है, वह मिथ्यात्व में पड़ जाता है। दूसरे नयों का निषेध करने वाला व्यक्ति स्वयं जिस नय का अवलम्बन करता है, उसका वह नय दुर्नय बन जाता है। अतएव अपनी ही बात का हठ न पकड़कर दूसरों के कथन पर भी सम्यक्प्रकार से विचार करना चाहिए और विवेक के साथ पूर्वापर विचार करके सत्य वस्तु पर श्रद्धा रखनी चाहिए। यही सम्यक्त्व है। पुण्योदय होने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। स्याद्वाद सिद्धान्त किसी किस्म का दुराग्रह न करके यह मानने का उपदेश देता है कि जो सच्चा है सो मेरा, यह नहीं कि मेरा सो सच्चा। अतएव सम्यक्त्व प्राप्त करके मोक्ष की सिद्धि के लिए पुरुषार्थ करो। सम्यक्त्व में पराक्रम करना ही मोक्षप्राप्ति का राजमार्ग है।

जो वीतराग हैं, उन्हें किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं होता। इस कारण वीतराग वाणी सदा सत्य, शिव और सुन्दर होती है। सराग और सदोष व्यक्ति के वचनों में अपूर्णता हो सकती है, वीतराग देव की वाणी में अपूर्णता के लिए कोई स्थान नहीं। अगर

वीतराग-वाणी को यथावत् समझने की बुद्धि तुममें नहीं है तो यही कहो कि वीतराग भगवान् ने जो कुछ कहा है वही सत्य है। इस प्रकार वीतराग-वाणी को तुम सत्य, शिव और सुन्दर मानोगे तो निश्चित रूप से आराधक बन सकोगे और आत्म-कल्याण साध सकोगे।

प्रस्तुत अध्ययन में भगवान् ने जो कुछ कहा है, वह कोई विवाद का विषय नहीं है। वह तो आचरण करने का विषय है। भगवद्-वाणी पर अमल करने वाला पुरुष स्व-पर का कल्याण साध सकता है। अतएव तुम किसी प्रकार के वादविवाद में पड़े विना ही भगवान् की वाणी क अनुसार व्यवहार करो। इसी में तुम्हारा कल्याण है।

वादविवाद करने से न वस्तु का निर्णय ही होता है और न वादविवाद का अन्त ही आता है। जिसमें जितनी ज्यादा बुद्धि होगी वह उतना ही अधिक वाद विवाद कर सकेगा और वाद विवाद करते-करते जीवन ही समाप्त हो सकता है। अतएव वाद-विवाद में न पड़कर भगवान् के निर्दिष्ट मार्ग पर चलने में ही सम्यक्त्वपूर्वक पराक्रम करना चाहिए।

निस्पृह होकर अपने आत्मा की तराजू पर भगवान् की वाणी तोलोगे तो भगवान् के वचन की सत्यता प्रतीत हुए विना नहीं रहेगी। आत्मा स्वयं ही सत्य-असत्य तोलन के लिए तराजू है। अगर आत्मा कुटिलता का त्याग करके सरलता धारण करे तो अवश्य ही यह निर्णय करने में समर्थ बन सकता है कि सत्य क्या है और असत्य क्या है? आत्मा वास्तव में सिद्ध के समान है, मगर इस समय मोह में पड़ा है। इस मोह को हटा देना ही सिद्ध के

समान बनने का उपाय है। आत्मा का कल्याण आत्मा के पास ही है। यह बात ध्यान में रखकर सम्यक्त्व के विषय में पराक्रम करो। इससे अवश्य ही स्व-पर का कल्याण होगा।

महावीर भगवान् ने केवलज्ञान प्राप्त करके जिस धर्म की प्ररूपणा की है और जिसका वर्णन इस अध्ययन में किया गया है, उसका परिपूर्ण विवेचन तो कोई पूर्ण पुरुष ही कर सकता है। साधारण व्यक्ति के बूते का यह काम नहीं है। फिर भी आकाश का पार न पाने पर भी पक्षी अपनी शक्ति के अनुसार आकाश में उड़ते ही हैं। 'मैं आकाश का पार नहीं पा सकता' यह सोचकर पक्षी आकाश में उड़ना नहीं छोड़ देता। इसी प्रकार यहाँ अपनी शक्ति और मति के अनुसार सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन का विवेचन किया गया है। अगर सूत्र का विवेचन पूरी तरह तुम्हारी समझ में न आया हो तो भी जितना समझो उतना ही जीवन में उतारो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा।

सर्वप्रथम वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और केवलिप्ररूपित धर्म पर श्रद्धा करो। यही कल्याण का मार्ग है।
